

ISSN 2350-1065 MUKTANCHAL

वर्ष : 10, अंक 37, जनवरी-मार्च 2023

शोध, समीक्षण, सृजन एवं संचार का

मुक्ताचल

पीपल रिज्यूड त्रैमासिक

विमर्श - १

कोन्यालिचन

जिवविष्ट सन्दर्भ



विद्यार्थी मंच

मूल्य : 100 रुपये

उस पार से.....

टूटी हुई, बिखरी हुई

टूटी हुई बिखरी हुई चाय
की दली हुई पाँव के नीचे
पत्तियाँ

मेरी कविता

बाल, झड़े हुए, मैल से रूखे, गिरे हुए, गर्दन से फिर भी चिपके

.....कुछ ऐसी मेरी खाल,
मुझसे अलग-सी, मिट्टी में
मिली-सी

दोपहर-बाद की धूप-छाँह में खड़ी इंतजार की टेलोगाड़ियाँ
जैसे मेरी पसलियाँ....

खाली बोरे सूजों से रफू किए जा रहे हैं....जो
मेरी आँखों का सूनापन हैं

ठंड भी एक मुस्कराहट लिए हुए है
जो कि मेरी दोस्त है।

कबूतरों ने एक गजल गुनगुनाई....
मैं समझ न सका, रदीफ-काफिए क्या थे,
इतना खफीफ, इतना हलका, इतना मीठा
उनका दर्द था।

आसमान में गंगा की रेत आइने की तरह हिल रही है।
मैं उसी में कौचड़ की तरह सो रहा हूँ
और चमक रहा हूँ कहीं.....
न जाने कहाँ।

मेरी बौसुरी है एक नाव की पतवार—
जिसके स्वर गीले हो गए हैं,
छप-छप-छप मेरा हृदय कर रहा है....
छप छप छप।

वह पैदा हुआ है जो मेरी मृत्यु को सँवारनेवाला है।



शमशेर बहादुर सिंह

(13 जनवरी 1911-12 मई 1993)

मुझको वह दूकान मैंने खोली है जहाँ 'प्याइजन' का
लेबुल लिए हुए

दवाइयाँ हैंसती हैं—

उनके इंजेक्शन की चिकोटियों में बड़ा प्रेम है।

वह मुझ पर हँस रही है, जो मेरे होठों पर एक तलुए
के बल खड़ी है

मगर उसके बाल मेरी पीठ के नीचे दबे हुए हैं
और मेरी पीठ को समय के चारीक तारों की तरह
खुरच रहे हैं

उसके एक चुबन की स्पष्ट परछाईं मुहर बनकर उसके
तलुओं के ठप्पे से मेरे मुँह को कुचल चुकी है

उसका मोना मुझको पीसकर बराबर कर चुका है।

मुझको प्यास के पहाड़ों पर लिया दो जहाँ मैं
एक झरने की तरह तड़प रहा हूँ।

मुझको सूरज की किरनों में जलने दो
ताकि उसकी आँच और लपट में तुम
फौवारे की तरह नाचो

मुझको जंगली फूलों की तरह ओस से टपकने दो,
ताकि उसकी दबी हुई खुशबू से अपने पलकों की
उनीदी जलन को तुम भिगो सको, मुमकिन है तो।

हाँ, तुम मुझसे बोलो, जैसे मेरे दरवाजे की शरमाती चूल्हे
सवाल करती हैं बार-बार...मेरे दिल के

अनगिनती करों से

हाँ, तुम मुझसे प्रेम करो जैसे मछलियाँ लहरों से करती हैं
जिनमें वह फँसने नहीं आती,

जैसे हवाएँ मेरे सोने से करती हैं

जिसकी वह गहराई तक दबा नहीं पाती,

शोध, समीक्षण, सृजन एवं संचार का

मुक्तांचल

पीयर रिव्यूड त्रैमासिक

वर्ष-10, अंक- 37, जनवरी-मार्च 2023

संपादक : डॉ. मीरा सिन्हा
 प्रकाशक : विद्यार्थी मंच
 प्रबंध संपादक : सुशील कुमार पांडेय
 कला संपादक : शुभांगता श्रीवास्तव
 प्रसार प्रबंधक : रमेश कुमार शर्मा
 प्रूफ संशोधक : विनोद यादव

परामर्श एवं विशेष सहयोग :

प्रो. दामोदर मिश्र : कुलपति, हिन्दी विश्वविद्यालय, हावड़ा
 डॉ. पंकज साहा : खड़गपुर कॉलेज, पश्चिम बंगाल
 डॉ. अरुण कुमार : प्राक्तन प्रोफेसर, राँची विश्वविद्यालय
 डॉ. रणजीत सिन्हा : मिदनापुर कॉलेज (ऑटोनोमस), मिदनापुर
 डॉ. निशांत : काजी नजरूल विश्वविद्यालय, आसनसोल
 डॉ. कृष्ण कुमार : अध्यक्ष, गीतांजलि बहुभाषिक साहित्यिक समुदाय, (बर्मिंघम, यू.के.)

व्यवस्थापन एवं प्रबंधन :

विनोद यादव, विनीता लाल, सरिता खोवाला,
 परमजीत पंडित एवं बलराम साव - 89107 83904

संपर्क एवं प्रसार :

चाँदनी सिन्हा (बर्मिंघम, यू.के.) : +447411412229
 कुणाल किशोर (के.वि. हिमाचल प्रदेश): 7998837003

लेखकों से अनुरोध किया जाता है कि मुक्तांचल में
 प्रकाशन हेतु सामग्री यूनिकोड वर्ड (Unicode Word)
 या (Kurtidev010) में भेजें।

पत्रिका में व्यक्त विचारों से संपादक की सहमति अनिवार्य नहीं
 'मुक्तांचल' से संबंधित सारे विवादों के लिए न्याय-क्षेत्र कलकत्ता
 उच्च न्यायालय होगा।

पीयर रिव्यूड टीम :

डॉ. धूपनाथ प्रसाद : महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी
 विश्वविद्यालय, वर्धा, महाराष्ट्र
 डॉ. विश्वजीत भद्र : प्राध्यापक, नेताजी नगर कॉलेज
 (कलकत्ता विश्वविद्यालय)
 प्रो. मोहम्मद फ़रियाद : प्राक्तन अध्यक्ष, जनसंचार विभाग,
 मौलाना आजाद नेशनल उर्दू यूनिवर्सिटी, हैदराबाद
 डॉ. सुनील कुमार 'सुमन' : प्रभारी, क्षेत्रीय केंद्र कोलकाता,
 महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा, महाराष्ट्र
 प्रो. मंजु रानी सिंह : विश्वभारती, शांतिनिकेतन
 प्रो. अरुण होता : अध्यक्ष, हिंदी विभाग, स्टेट यूनिवर्सिटी, बारासात
 प्रो. मनीषा झा : अध्यक्ष, हिंदी विभाग, उत्तर-बंग विश्वविद्यालय
 डॉ. सत्या उपाध्याय : प्राचार्य, कलकत्ता गर्ल्स कॉलेज, कोलकाता
 डॉ. अंजनी कुमार झा : एसोसिएट प्रोफेसर, मीडिया स्टडीज,
 महात्मा गांधी केंद्रीय विश्वविद्यालय, मोतीहारी (बिहार)
 डॉ. शुभा उपाध्याय : अध्यक्ष, हिंदी विभाग, खुदीराम बोस
 सेंट्रल कॉलेज, कोलकाता

मुक्तांचल: A/c- 50200014076551, HDFC BANK
 BURRABAZAR, KOLKATA- 700007,
 IFSC CODE- HDFC0000219

संपादकीय कार्यालय :

आधुनिक अपार्टमेंट, 6/2/1 आशुतोष मुखर्जी लेन
 सलाकिया, हावड़ा-711106, पश्चिम बंगाल
 संपर्क - 033-26751686, 9831497320,
 9681105070

ई-मेल - muktanchalpatrika@gmail.com
 sinhameera48@gmail.com

मुद्रक : शिक्षण, 50, सीताराम घोष स्ट्रीट,
 कोलकाता-700009

पत्रिका का मूल्य : एक अंक - 100 रुपये

सदस्यता शुल्क : वार्षिक- 600 रुपये, आजीवन-3000 रुपये

संस्थाओं के लिए : वार्षिक-600 रुपये, आजीवन-3500 रु.
 डाकखर्च (प्रत्येक अंक के लिए) अतिरिक्त 30 रुपये।

अवस्थिति

शोध	06 संस्तुति आलेख	
	07 विजय बहादुर सिंह : 11 सेवाराम त्रिपाठी : 20 मनीषा झा : 23 डॉ० पंकज साहा :	काव्यालोचक की भूमिका कविता के विविध रंग और उसका आस्वाद कविता में हुगली सूर्यभानु गुप्तः कवि एक रंग अनेक
समीक्षण	अनुशीलन 26 रंजना अरगडे : 34 स्नेहा सिंह : 38 रसना मुखर्जी: 40 दिव्या प्रसाद :	शमशेर बहादुर सिंह की कविता 'टूटी हुई, बिखरी हुई' का पाठ श्वानों की निगाह में 'कोरोना': संदर्भ 'अल्फा-बीटा-गामा' नवगीत का परिप्रेक्ष्य और नवगीतकार कवि की कविता : एक विचार
	विमर्श 43 डॉ० के० बी० एल० पाण्डेय :	छायावाद अदालत तक लगभग
	संस्मृति 46 निशान्त : कहानी	स्मृतियों में मैनेजर पाण्डेय
	49 सुषमा मुनीन्द्र : 60 डॉ० कविता विकास : 63 स्वाति मिश्रा :	रूठे सजन मनाइये, जो रूठे सौ बार अंतिम फैसला वृंदावन
संचार	व्यंग्य 65 विनोद साव : समय की शिला पर 67 वंदना गुप्ता :	ध्वस्त करने के विशेषज्ञ अतीत से वर्तमान तक स्त्रियों की पीड़ा ही मेरी लेखनी- का उत्स है।
	कविता 71 शैलेंद्र शांत :	सूना कोना, भरोसे का टूटना, और बस साहब जी, अहसास, वारिस हो न हो, पिता की छाप, लाजमी।

शोध	74 मंजु रानी सिंह :	चुनाव, चल पेड़, सवाल, बच्चा, जीने का सबब, प्रेम, पृथ्वी दिवस, पीला पत्ता
	77 त्रिषान्विता :	दिसंबर, चित्रों का एक अल्बम, दरख्त, भाषाएँ, ठिठकना, बागी
	80 मंजु श्रीवास्तव :	विडंबना, चिड़िया और हम, स्त्रियाँ, मुखर्जी साहब की माँ, पिता की पुरानी साइकिल
समीक्षा	83 श्रीप्रकाश गुप्त :	हाइकू : प्रेम, ऊर्जा
	85 शुभा उपाध्याय : पुस्तकायन	काठ गोदाम के अक्स
	90 रानी सुमिता :	‘ओलोचना के समानान्तर’ स्त्री आलोचना संसार को समृद्ध करने का सार्थक प्रयास है
पू	94 खुदेजा खान :	पर पीड़ा की मार्मिक अभिव्यक्ति : इस बार उनके लिए
	98 डॉ० शैलेश्वर सती प्रसाद :	द्वैतात्मक यथार्थ का महाकाव्यात्मक सौन्दर्य
	103 मोहन कुमार :	हिन्दी आलोचना का आलोचनात्मक इतिहास: डॉ० अमरनाथ
सृजन	106 महेश कटारे : शोधार्थी की कलम से	‘खबरों की दुनिया में’ (काव्य संग्रह) : सदानन्द सुमन
	107 पंकज कुमार सिंह :	राष्ट्रीय-सांस्कृतिक कविता का अवदान
	112 रवि प्रकाश : साक्षात्कार	अशोक चक्रधर की कविताओं में समसामयिक समस्याओं पर व्यंग्य
संचार	116 हारून रशीद : गतिविधियाँ	कविता एक सफर है, भीतर का और बाहर का : सतीश विमल
	119 प्रिया श्रीवास्तव : प्रीति कुमारी साव :	शोध-समीक्षण समिति का उद्घाटन मुक्तांचल पत्रिका के 36 वें अंक का लोकार्पण एवं विचार गोष्ठी का आयोजन
	श्रद्धा गुप्ता ‘केसरी’ :	प्रगति प्रकाशन द्वारा प्रकाशित पुस्तक का लोकार्पण

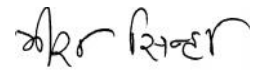
संस्तुति

काव्यालोचन केन्द्रित अंक को संपादित करते हुए कई तरह की उद्भावनाओं से गुजरना सार्थक रहा। पत्र-पत्रिकाओं के माध्यम से हम समय की नब्ज टटोल लेते हैं। पत्रिकाएँ विविध सन्दर्भों पर संवाद करती हैं। 'मुक्तांचल' का दसवाँ वर्ष कई साहित्यिक सन्दर्भों को संवाद से जोड़ने का प्रयास कर रहा है। प्रस्तुत अंक में कविता पर विविध प्रकार से विचार किया गया है। वस्तुतः, दो सदियों के आर-पार से सर्जित कविताएँ अपनी बुनावट एवं बनावट में बदलती रही हैं, विश्व स्तर पर छा जाने वाले तकनीकी हमलों ने कला जगत पर भी अपना विस्तृत प्रभाव छोड़ा है। कविता की दुनिया भी उससे अछूती नहीं रह पाई है। आज की कविता सिर्फ भाव संवलित न रहकर अधिक तात्त्विक होती जा रही है। कविता में भावना से विचार की तरफ संचरण ही उसकी तात्त्विकता को प्रमाणित करता है। कविता की विवेचना मंच पर वाचन मात्र से पूरी नहीं होती उसके लिए चाहिए विश्लेषण की कलम जिसे लेखन द्वारा ही संभव किया जा सकता है। जहाँ तक रचना के प्रसार का सवाल है आज भी पत्रिकाओं की भूमिका इस दिशा में अधिक कारगर है। जिल्द में बन्द रचनाओं की तुलना में पत्र-पत्रिकाओं द्वारा प्रसारित रचना एवं रचनाकार ज्यादा लोगों तक पहुँच सकते हैं। आज भी मुक्तिबोध की लम्बी कविता 'अंधेरे में' के बहुत सारे पाठ मिलते हैं, यह कविता 1964 में 'कल्पना' पत्रिका में पहली बार 'आशंकाओं के द्वीप अंधेरे में' अंधेरे में शीर्षक से प्रकाशित हुई थी।

इसी अंक में रंजना अरगडे जी ने शमशेर की कविता 'टूटी हुई, बिखरी हुई' का पाठ अनुशीलन किया है। परिशिष्ट में पाठकों की सुविधा के लिए सम्पूर्ण कविता भी दी गई है। सुधी पाठकों से अनुरोध है कि इस अंक में भिन्न तरह की कविताएँ अर्थात् हाइकू से लेकर लम्बी कविता तक संकलित है आप उनपर अपने विश्लेषणात्मक पाठ अवश्य भेजें। शुभ्रा उपाध्याय की लम्बी कविता 'काठ गोदाम के अक्स' भी अपने पाठ की अपेक्षा रखती है।

उम्मीद है, इस अंक की सामग्री आपको अपनी प्रतिक्रिया देने के लिए प्रेरित अवश्य करेगी। अगले अंक में हम आप द्वारा प्रेषित परिचर्चा को प्राथमिकता देंगे और उन्हें संवाद से जोड़ेंगे।

अगला अंक मुक्तांचल - 38 (अप्रैल-जून 2023) लघुकथा केन्द्रित होगा, इस विशेष अंक के अतिथि सम्पादक होंगे प्रसिद्ध व्यंग्यकार एवं आलोचक डॉ० पंकज साहा। आप लघु कथा अंक के लिए सामग्री अप्रैल के अन्तिम सप्ताह तक प्रेषित कर दें। पिछली बार निशान्त द्वारा प्रेषित 'मैनेजर पाण्डेय की संस्मृति' भूल से अधूरी गई थी। इस बार भूल सुधार कर दिया गया है।



संपादक

परंपरा में काव्यालोचन का इतिहास नया नहीं है। काव्य का इतिहास भी कहाँ नया है। इसीलिए मेरे मित्र और विख्यात काव्य शास्त्री आचार्य राधावल्लभ त्रिपाठी भारत में कलाचिंतन की परंपरा को ईसा पूर्व एक हजार या उससे भी अधिक की मानते हैं। उनके ग्रन्थ 'भारतीय काव्यशास्त्र की आचार्य-परम्परा' के अनुसार ऐतरेय ब्राह्मण एक हजार ई.पू. या उससे पहले की रचना है। कला, संस्कृति और सौन्दर्य के विषय में इसमें जो चिन्तन महीदास ने प्रस्तुत किया है, उसे देखते हुए उन्हें विश्व का प्रथम कलाचिन्तक भी कहा जा सकता है। उनका यह चिन्तन वैदिक दर्शन या वैदिक विश्वबोध के मूलाधार पर प्रतिष्ठित है। त्रिपाठी जी महीदास के आशयों का निरूपण करते हुए लिखते हैं – 'वैदिक विश्वबोध इस जगत को परमात्मा की रची कविता के रूप में देखता है (देवस्य पश्य काव्यं न ममार न जीर्यति – अथर्ववेद 10/8/32)। सम्पूर्ण जगत को परमात्मा का काव्य कहता है। उसके अनुसार काव्य एक व्यापक अवधारणा है।शतपथ ब्राह्मण (7/2/2/17) तथा वृहदारण्यक उपनिषद् (1/5.14) में प्रजापति की सोलह कलाओं का विवरण है, जो काल या समय चक्र के रूप में जगत को धारण करती है। यदि यह जगत परमात्मा के द्वारा रची कविता है, तो इस कविता को कवि या कलाकार अपनी कृति में नए सिरे से रचता, कहता और प्रस्तुत करता है। ऐतरेय महीदास इस दृष्टि से समस्त कलाओं को दो प्रकार का मानते हैं – देवशिल्प और मानुष शिल्प। देव शिल्प की ही अनुकृति मानुष शिल्प है। अतएव कवि कर्म भी शिल्प है। जिस तरह प्रत्येक शिल्प आत्मसंस्कृति है, वह शिल्पकर्ता और शिल्प के भावक को संस्कारित करता है, उसी तरह कवि कर्म भी कवि और भावक दोनों को पावन बनाता है।'

ऐतरेय महीदास की यह अवधारणा भारतीय कलाचिन्तन और व्यवहार में दूर-दूर तक अनुप्रविष्ट देखी जा सकती है। कविगण भी संसार में जो सौन्दर्य, लालित्य, उदात्त और भव्य है, उसे परमात्मा या प्रजापति की आद्य सृष्टि बताते आए हैं।

डॉ० त्रिपाठी के अनुसार ऐतरेय महीदास ने अनुकृति शब्द के प्रयोग के साथ अनुकृति की जिस प्रक्रिया की ओर संकेत किया है, उसी का पल्लवन भरतमुनि से आरम्भ करके भारतीय कलाचिन्तन या नाट्यशास्त्रीय विचार में अभिनव आदि करते आए हैं।

यहीं वे प्लेटो को अनुकरण वाली अवधारणा पर यह टिप्पणी करते हैं कि उनके अनुसार यह पूरा व्यापार मात्र नकल की नकल भर है जबकि अरस्तू ने इसे कोरी नकल न मानते हुए एक सर्जनात्मक व्यापार कहा जिसका कर्ता कवि या नाटककार है।

यहाँ यह भी ध्यान में रखने की बात है कि संस्कृत कलाचिन्तन में काव्य का अर्थ केवल कविता से नहीं है, वरन् समस्त सृजनात्मक शब्द-व्यापार से है। इसलिए नाटक हो या कथा अथवा आख्यायिका – सब काव्य के अन्तर्गत हैं। इसी काव्य-व्यापार का साक्षात्कार करना, उससे संवाद करना, उसमें निहित जीवन-बोध अथवा मूल्य-बोध के वशिष्ट्य को लक्षित करने की कला को ही काव्यालोचन कहा गया है। पर इसमें प्राथमिक भूमिका का आधारभूत भूमिका उस वाणी-व्यापार की होती है जिसे साधक ही सर्जना संभव की जा सकती है। पर कैसा वाणी व्यापार ?

इस सन्दर्भ में भामह और दण्डी जैसे आचार्य याद आते हैं। भामह वक्रोक्ति और दण्डी अग्राम्यत्व (अनयूजुअल भाषा-प्रयोग) की बात करते हैं। इसमें वामन जैसे आचार्य को

मिलाकर कहें तो ये सब 'उक्तिवैचित्र्य' की बात करते हैं। ये सब इसमें से फूटते उस सौंदर्य को अलंकार कह यह मानने और कहने में भी कोई झिझक प्रकट नहीं करते कि ऐसा भाषा-व्यापार ही सौंदर्य की सृष्टि करता है। इस सौंदर्य का रसपान करने वाला काव्य-रसिक और उसकी विवेचना की क्षमता रखने वाला सहृदय कहा जाता है।

काव्यशास्त्र की पुस्तकें ये हवाला भी देती हैं कि जिसे काव्य का आस्वादन करना आता है, वह 'विदग्ध नागरक' कहा जाता है। इससे भिन्न विशेष योग्यता वाला वह होता है जो केवल रसिक या विदग्ध नहीं होता जो काव्य के आस्वादन की उपपत्ति खोजने का प्रयास करता है जो अपने काव्य के गुण-दोषों की विवेकी परख रखता हो, समय-समय पर काव्य के संबंध में अपना विचार भी प्रस्तुत किया करता है, वह रसिक या विदग्ध से कुछ अधिक सामर्थ्य वाला हुआ करता है। संस्कृत काव्य-शास्त्र में इसे तो 'सहृदय' अथवा आलोचक कहा जाता है। साहित्य-चिन्तकों ने इसे काव्य अथवा साहित्य का मधुप कहा है। भ्रमर; जैसे फूल-फूल में से मधुकुण ले लेता है, उसी तरह आलोचकों की परम्परा अपने समय के काव्यों की विशेषताओं का विवेचन कर काव्य-शास्त्र के निर्माण में अपना योगदान दिया करता है। कुछ अधिक सहज-सरल ढंग से कहा जाय तो हीरे की परख जैसे जौहरी की योग्यता मानी जाती है, उसी तरह साहित्य की श्रेष्ठता की माप आलोचकों का समूह किया करता है। ऐसा न होता तो इकबाल जैसे महान शायर को यह शेर लिखने की जरूरत ही नहीं पड़ती -

हजारों साल नरगिस अपनी बेनूरी पर रोती है।

बड़ी मुश्किल से होता है चमन में दीदावर पैदा।।

साहित्य में इसी 'दीदावर' को आलोचक कहा जाता है। नागार्जुन जैसे प्रतिभा सम्पन्न मूर्धन्य कवि ने कभी कहा था - "कलाकार ने फिर फिर सोचा/अगर कीर्ति का फल चखना है/आलोचक को खुश रखना है/(बशर्ते वह आलोचक हो)।"

पर काव्य-व्यापार भी कोई सामान्य व्यापार नहीं है। परम्परा मानती है कि यह व्यापार सबके लिए संभव नहीं होता। अधिकांश तो बस लीक ही पीटते रह जाते हैं। इसीलिए कबीर ने कहा है - 'कवियन की नहि पाँत।' इसके लिए मौलिक प्रतिभा की जरूरत होती है। शास्त्रों में इसे सारस्वत प्रतिभा कहा गया है। इसका प्रधान लक्षण है अभिनव कल्पना-शक्ति। या फिर पुराने को नया कर सकने (पुर्ननवता) की क्षमता। उदाहरण के

लिए, महाभारत में दुष्यन्त और शकुन्तला की कथा, जिसे अपने वर्ण्य-विषय के रूप में चुनकर कालिदास ने ऐसा चमत्कारी सृजन किया कि वह विश्व की एक आद्वितीय रचना बन गई। मानसकार कवि तुलसीदास ने भी वाल्मीकि की रामकथा के साथ ऐसा ही चमत्कार किया। दोनों में यही पुर्ननवता सक्रिय देखी गई।

किन्तु रामायण-महाभारत आदि काव्य तो साक्षात् आर्ष प्रतिभा के काव्य हैं। हिन्दी में 'कामायनी' को यहाँ याद किया जा सकता है।

काव्यालोचक का काम कला या शिल्प के भीतर संघटित उन सूक्ष्म तत्वों की पहचान करना है जिनके विशिष्ट संयोजन से संबंधित कृति सौन्दर्यमयी हो उठी है। आलोचक कभी-कभी इस काम में चूकता भी है जिसका एक कारण उसकी 'सहृदयता' का शास्त्रबद्ध हो उठना है। छायावादी कवियों के संदर्भ में आचार्य शुक्ल जैसे बड़े आलोचक से यही चूक हुई। इसका एक बड़ा कारण तुलसीदास जैसे असाधारण सर्जक कवि से उनका आक्रान्त हो उठना था। वे यह भी मानने को तैयार नहीं दिखे कि कविता का एक और श्रेष्ठ स्वरूप प्रबंध के ढाँचे से बाहर भी हो सकता है। यह भी कि छायावाद और रहस्यवाद की अपनी कोई स्वदेशी जातीयता (राष्ट्रीयता) भी हो सकती है। यही कारण था कि छायावादी कवियों की रहस्यधर्मी कविताओं को उन्होंने सेमेटिक रहस्यवाद से जोड़कर देखा। अकारण नहीं उनकी ही कक्षा के छात्र, और अपने को उनका शिष्य मानने वाले आलोचक नन्ददुलारे वाजपेयी ने छायावादी प्रगीतों की रचना-प्रक्रिया के स्वरूप का उद्घाटन करते हुए लिखा - 'कविता जिस स्तर पर पहुँच कर अलंकारविहिन हो जाती है, वहाँ वह वेगवती नदी की भाँति हाहाकार करती हुई हृदय को स्तम्भित कर देती है। उस समय उसके प्रवाह में अलंकार, ध्वनि, वक्रोक्ति आदि न जाने कहाँ बह जाते हैं और सारे सम्प्रदाय कैसे मटियामेट हो जाते हैं।

वाजपेयी कविता की श्रेष्ठता-अश्रेष्ठता की माप का आकलन हृदय पर पड़ने वाले उसके प्रभाव से करते हैं। यही वे यह भी लिखना जरूरी समझते हैं कि - "संसार के बड़े कवियों की महान रचनाएँ इसी प्रकार की हैं और यूरोपीय समीक्षाकार इसी के समर्थन में शक्तिशाली तर्क उपस्थित करने लगे हैं। हम हिन्दी वालों को इस तत्व को ग्रहण करने की आवश्यकता है।" (हिन्दी साहित्य-बीसवीं शताब्दी)

कुल मिलाकर इससे जो सत्य हाथ आता है वह यही कि काव्यालोचन कोई ठोस काव्यशास्त्र नहीं है। उसके

लिए तरल और गतिशील सहृदयता की निरंतरता जरूरी है। जीजीविषा उसका स्थायी लक्षण है किन्तु इसकी मुद्राएँ और गतियाँ परिवर्तनकारी होती हैं। न होतीं हमारे जमाने के कवि को यह लिखने की कभी जरूरत क्यों पड़ती –

“जहाँ लिखा है प्यार

वहाँ लिख दो सड़क

कोई फर्क नहीं पड़ता”

—केदारनाथ सिंह

आलोचक की पहली शिक्षा यहीं ऐसी ही अभिव्यक्तियों को लेकर होती है। मुक्तिबोध की कविता अगर देर तक अपने किसी समीक्षक के इंतजार में रहती आई तो कारण यही कि यहाँ संवेदनाओं का ही चेहरा बदला हुआ नहीं था, अभिव्यक्ति की भंगिमाएँ भी बदली हुई थीं। इसलिए जो काव्यालोचक निराला जैसे कवि का सहृदय आलोचक, वहीं कवि मुक्तिबोध को समझने में चूकता रहा। उसने कवि की तरह यह सोचना जरूरी नहीं समझा कि चाँद का मुँह अगर टेढ़ा लग रहा है तो क्यों? इसके पीछे की वजहें क्या हैं? अपने समय के जीवन यथार्थ को समझने के लिए कवि को फिर भी ‘चाँद’ जैसे अति पुरातन बिम्ब को लेने की जरूरत क्यों पड़ी?

एक अन्य बड़े आलोचक को भी मुक्तिबोध को ये अभिव्यक्तियाँ चीखती हुई सुनाई पड़ी। निस्सन्देह मुक्तिबोध इस जायज और जरूरी, साथ ही सच्ची चीख के कवि हैं, पर आलोचकों की एक बिरादरी, जो प्रौढ़ता को प्राप्त कर चुकी थी, इस सन्दर्भ में चूकती रही।

मुक्तिबोध स्वयं एक साहित्य-चिन्तक भी थे। आश्चर्य है कि उनके सबसे प्रिय और आदर्श कवि निराला नहीं, कामायनीकार जयशंकर प्रसाद थे। इसके पीछे के कारण क्या हो सकते हैं? इसे समझने की कोशिश करें तो कवि प्रसाद की वे कोशिशें जो उन्होंने अपने समय की सभ्यता से संवाद करने को लेकर कीं। यह बहुत कुछ वैसी ही एक कोशिश थी जैसी 1909 में गाँधी ने ‘एक स्वराज’ को लेकर की थी। गाँधी और प्रसाद की कोशिशों में अगर कोई चरित्रगत फर्क था तो यही कि गाँधी की आधारभूत माँग नैतिक और राजनीतिक थी तो प्रसाद की सांस्कृतिक और दार्शनिक। गाँधी के यहाँ जो देश था वह स्पष्ट रूप से हिन्दुस्तान था, प्रसाद के यहाँ था तो प्राथमिक तौर पर हिन्दुस्तान (भारत) ही पर एक उदात्त वैश्विकता लिए हुए। यों गाँधी जी स्थूल अर्थों में एक राजनेता ही थे, अधिक से अधिक एक महात्मापन लिए हुए किन्तु प्रसाद की दृष्टि जिस आचारपरक आध्यात्मिकता की माँग कर रही थी, उसका एक और धरातल भी आर्थिक और

राजनीतिक था, ठीक गाँधी की तरह। मुक्तिबोध प्रसाद को लेकर यहीं रीझे हुए थे और किंचित खीझे हुए भी। उन्हें अपनी इस ‘खीझ’ का बोध भी था।

स्वयं अपनी कविता में बेहद ‘रफ़-टफ़’ और ‘ब्रह्मराक्षस’ होकर जीनेवाले मुक्तिबोध को क्यों ‘कुकुरमुत्ता’ वाले निराला आकृष्ट नहीं कर पाए और क्यों कोमल, मधुर पदलालित्य वाले प्रसाद मोहने लगे, यह हमें कौन समझाएगा? प्रसाद की कविता ही क्यों उन्हें विश्व कविता से प्रतिस्पर्धा के योग्य लगी?

इसके पीछे कहीं काव्यालोचक का अपना कोई अन्तर्निहित स्वभाव तो काम नहीं करता? क्या आलोचक के वे संस्कार जो बचपन से उसकी चेतना में, उसके अनजाने ही रस-बस जाते हैं और अदृश्य रूप से अपनी भूमिका निभाते रहते हैं? इसका एक जवाब तो यह दूढ़कर निकाला ही जा सकता है कि किसी आलोचक ने अपनी सर्वप्रिय मुग्धता और रसिकाई किस एक कवि अथवा कथाकार के प्रति लगभग आत्मसुध होकर निभाई है? रामविलास शर्मा का अपने कवि बंधु केदारनाथ अग्रवाल को लेकर दिखाया गया यह आकर्षण हिन्दी रसिक समाज पर क्यों कोई प्रभाव नहीं छोड़ पाया? शर्मा जी रेणु जैसे अति प्रतिभाशाली कथाकार को समझने से क्यों चूकते रहे?

अन्यों का भी उदाहरण यहाँ याद किया जा सकता है। भुवनेश्वर जैसे अपूर्व नाटककार के साथ भी क्या यही सब नहीं हुआ? उनके समय के आलोचकों ने उनकी अनदेखी क्यों की?

बात अगर केवल कविता तक सीमित करें तो प्रसाद की जो काव्य-भाषा और पदावली शुक्ल जी और रामविलास जी को लालित्यमयी और अर्थगम्भीर लगती रही, वही नामवर सिंह जी को क्योंकर फीलपाँवो सी लगती रही।

क्या तब हम मान लें कि आलोचक का अपना भी एक निजी सौन्दर्यबोध होता है? दलित लेखक अगर यह मानते हैं कि सवर्ण लेखक उनकी वेदनानुभूति का एहसास नहीं कर सकते तो इसमें कितनी कुछ सच्चाई है? खुद दलित लेखक जिस सवर्ण-व्यवस्था को लेकर प्रायः क्षोभ से भरे हुए हैं और उनकी भाषा में बेलिहाज आक्रामकता का जैसा उत्तेजनात्मक ताप है, वह परम्परागत किस सौन्दर्यबोध और सौन्दर्यशास्त्र के अनुरूप है या फिर किसी नये सौन्दर्य-शास्त्र के अनुरूप है या फिर किसी नये सौन्दर्यशास्त्र की माँग करता है? क्या इसके लिए नये साहित्यालोचक का आगमन जरूरी नहीं है।

हिन्दी के लोगों को याद जरूर होगा कि नागार्जुन जैसे सवर्ण प्रतिभाधर ने अपनी काव्य-अस्मिता का परिचय देते हुए लिखा- 'प्रतिहिंसा ही स्थायीभाव है अपने ऋषि का..... नव दुर्वासा, शबर-पुत्र मैं/ शबर पितामह/ सभी रसों को गला-गलाकर/अभिनव द्रव तैयार करूंगा/महासिद्ध मैं, मैं नागार्जुन..../' अन्यत्र भी वे अपनी कविता में विश्वोभ रस की बात करते हैं। तब यहाँ परम्परावादी आलोचक क्या करे ?

मुक्तिबोध के यहाँ चाँद का मुँह टेढ़ा हो गया है, नागार्जुन विश्वोभ रस और प्रतिहिंसा भाव की बात कर रहे हैं और दलित कविगण सवर्ण (?) सौन्दर्यशास्त्र को नकार रहे हैं। तब इस बदली हुई काव्य-चेतना के साथ आलोचक का काव्य-विवेक किस धरातल पर संवाद करेगा ? कर भी सकेगा, अथवा नहीं ? यह एक बड़ा प्रश्न है।

यह सोचने और कहने में संकोच क्यों होना चाहिए कि एक संवैधानिक लोकतन्त्र में जीवन मर्यादाएँ काफी कुछ बदली हैं। फिर भी एक बड़ा समूह नये आ खड़े यथार्थ और उसके जायज सवालों का जबाब देने को राजी नहीं है। वह अपना वर्चस्व बनाये रखना चाहता है इसलिए इस वैज्ञानिक समय में उसे तर्क से कहीं अधिक आस्था जीवनप्रद लगती है। यह अलग बात है कि भले ही यह आस्था उसकी जड़ता का ही दूसरा नाम है। तब आलोचक का अपना पक्ष क्या है ?

कविता का यथार्थ जितना बहुकोणीय, बहुआयामी और वैचारिक स्तर पर विविधतापूर्ण रहता आया है, आलोचक की चुनौतियाँ भी उसी कोटि की रहती आई हैं। कवि और उसकी संवेदनाएँ, औसत मानस और उसकी दृष्टि और संवेदनाओं से कई मायनों में भिन्न और विशिष्ट होती आई हैं। तभी तो वह कवि होता है। अपने समय के जीवन और उसकी गतियों को वह जिस स्तर पर जाकर अनुभव करता है तथा अपनी प्रतिभा के बल पर उसका सर्जनात्मक प्रतिबिम्बन करता है, वह आलोचक के लिए सबसे बड़ी चुनौती रही आई है। इसलिए युगान्तरकारी सर्जनाएँ हमेशा ऐसे आलोचकों को जन्म देती आई हैं, जो आलोचना के क्षेत्र में भी युगान्तर उपस्थित करते रहे हैं। याद करें तो कबीर को लेकर शुक्ल जी का मानस जैसा था। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने अपने कबीर संबंधी चिन्तन ने उसमें चमत्कारी परिवर्तन किया। द्विवेदी जी ने कबीर की कविता का एक नया सौन्दर्यशास्त्र ही विकसित कर दिखाया। वे वह सांस्कृतिक और सामाजिक परिप्रेक्ष्य प्रस्तुत कर सके जिसमें कबीर जैसों का संभव होना नैतिक रूप से अवश्यंभावी था।

इधर दो हजार नौ-दस के आस-पास राधावल्लभ जी त्रिपाठी एक भूले-बिसरे संस्कृत कवि वांछानाथ की रचना 'महिषशतकम्' लेकर आए और सत्ता के विरुद्ध प्रतिरोध की पहल को केन्द्रीय महत्त्व देने का प्रस्ताव जैसा किया। उन्होंने ही संस्कृत के जनधर्मी कवियों को संपादित कर संस्कृत भाषा और कविता का वह चेहरा लोक के समक्ष प्रस्तुत किया जिससे हिन्दी की जनधर्मी कविता भी नये सिरे से आत्मविश्वास प्राप्त कर सकी। आलोचक का यह भी एक काम है कि लुप्त होते जाते मानव-विवेक को होश-चेत में लाए, साथ ही उन मूल्यों की याद भी दिलाता चले, जिनसे नये युग का निर्माण होना है।

निश्चय ही इसके लिए उसकी बहुज्ञता और सजग संवेदनशीलता जरूरी है। पर ऐसा हमेशा प्रायः संभव नहीं होता। आलोचना के नाम पर ऐसी स्कूली सक्रियता की तब बाढ़-सी आ जाती है जो परीक्षोपयोगी होकर यह भारी भ्रम पैदा करती है कि वह भी वही कर रही है जिसे गिने-चुने प्रस्थानकारी आलोचक करते आए हैं। किसी भी क्षेत्र में इस तरह की पौधों का पनप कर लहराना मौलिक आलोचना के लिए भ्रमकारी तो है किन्तु चुनौतीपूर्ण भी क्या कम है ?

समकालीन हिन्दी कविता आज अनेक सवालों के घेरे में है। उसके द्वारा परोसे जाने वाला जीवन-यथार्थ अपने समय के लोक मानस को कितना संवेदित कर पा रहा है ? अगर नहीं कर पा रहा है तो वे कौन-सी वजहें हैं ? आलोचकों का समूह इस पर क्या सोच रहा है ? क्यों समकालीन कविता उस छंद और संगीतमयता को अब अपने योग्य नहीं मानती ? उसकी अतिवैचारिकता या बौद्धिकता क्यों उसके समय के बौद्धिक माने जाने वाले समाज को अपना पाठक बना पाने में असमर्थ लग रही है ? उसकी इस असमर्थता से स्वयं कविता की कितनी क्षति हो रही है ? क्यों वह एक सांस्कृतिक संपदा नहीं बन पा रही है ? हिन्दी फिल्में क्यों उसी या इस समकालीन समाज में इतनी आन्दोलनकारी मानी जा रही हैं कि सरकारें और उनका पालतू पिटू समाज असमर्थता का अनुभव करने लगा है ? कविता और कवियों का समकालीन समाज आज जिस सुरक्षात्मक पदावली में अपना कवि-कर्म संपादित कर रहा है, क्यों उससे न तो यथार्थ विह्वलता पैदा हो पा रही है, न वह विकलता ही जो एक सुविधाजीवी, समझौतापरस्त जनजीवन में नयी प्राणवत्ता का संचार कर सके ? क्या कविता ने आज अपना नैतिक स्वर सचमुच खो दिया है ?

संपर्क : 29 निराला नगर, दुष्यंत कुमार मार्ग, भोपाल-462003, मो० 9425030392

कविता के विविध रंग और उसका आभ्यास

सेवाराम त्रिपाठी

“सिर्फ कविता के लिए हुआ यह जन्म/सिर्फ कविता के लिए हुए कुछ खेल/सिर्फ कविता के लिए/.....सिर्फ कविता के लिए/ज्यादा-ज्यादा बढ़ता रक्तचाप/सिर्फ कविता के लिए/बादलों के शरीर पर गिरता है जल-प्रपात/सिर्फ कविता के लिए/और भी ज्यादा दिनों तक/जीवित रहने का लोभ होता है/मनुष्यों की तरह हताश होकर बचे रहना/सिर्फ कविता के लिए/मैंने अमरत्व हासिल किया है।” (बांग्ला कवि-सुनील गंगोपाध्याय)

आदिकाल से मनुष्य अपने सुख-दुःख आशा-निराशा और अपने संघर्ष को कविता के द्वारा सहज रूप से प्रकट करता आ रहा है। कविता की व्याप्ति समाज के भीतर हमेशा रही है। कविता हमारे जीवन की प्रतिकृति भी है और आगे-आगे रास्ता दिखाने वाली सच्चाई भी। तुलसी ने कहा है-‘कीरति भनिति भूति भलि सोई/सुरसरि सम सब कहैं हित होई।’ यह कविता का सत्यम् सुंदरम् है। कविता हमेशा मानव-कल्याण की परिधि में है। वह अन्याय, अत्याचार, दमन, शोषण, उत्पीड़न, अंधेरा, रूढ़ि, पोंगापंथ जैसी स्थितियों का मुकाबला करती है। उसका रण क्षेत्र हमेशा मनुष्य का मन दिमाग और उसकी चित्तवृत्तियाँ रही हैं। अस्त्र-शस्त्रों से युद्ध तो बहुत बाद में लड़ा जाता है; कविता मन के अंधेरे कोनों को प्रकाशित करने का काम करती है। यह कविता का हेतु है। हर कालखंड में मनुष्य को कविता की जरूरत रही है। इसीलिए साहित्य की समूची विधाओं को कविता के रूप में जाना-पहचाना जाता रहा है। दरअसल यह कविता की व्याप्ति का मुहावरा है और उसके एहसास का समग्र व्याकरण भी।

कविता की आवश्यकता पर जोर देते हुए आचार्य रामचंद्र शुक्ल लिखते हैं-“मनुष्य के लिए कविता इतनी प्रयोजनीय वस्तु है कि संसार की सभ्य-असभ्य सभी जातियों में, किसी-न-किसी रूप में पाई जाती है। चाहे इतिहास न हो, विज्ञान न हो, दर्शन न हो, पर कविता का प्रचार अवश्य रहेगा। बात यह है कि मनुष्य अपने ही व्यापारों का ऐसा सघन और जटिल मंडल बाँधता चला आ रहा है; जिसके भीतर बँधा-बँधा वह शेष सृष्टि के साथ अपने हृदय का संबंध भूला-सा रहता है। इस परिस्थिति में मनुष्य को अपनी मनुष्यता खोने का डर बराबर रहता है। इसी अंतःप्रकृति में मनुष्यता को समय-समय पर जमाते रहने के लिए कविता मनुष्य जाति के साथ चली आ रही है और चली चलेगी।” (चिंतामणि, भाग-01, पृष्ठ-119)

शुक्ल जी के कथन का आशय यह है कि हर स्थिति-परिस्थिति में, हर मौकों के बीच मनुष्य के अंतरांगों में कविता की सक्रिय उपस्थिति होती है। यदि मनुष्य को अपनी अस्मिता सुरक्षित रखनी है तो कविता उसके साथ अनिवार्यतः होगी ही। ऐसी जरूरी कविता को हासिल करने के लिए हमें उस पर कई दृष्टियों से विचार करना पड़ता है। साहित्यशास्त्र में अभिधा, लक्षणा और व्यंजना शक्तियों की भरपूर चर्चा हुई है। प्रश्न यह उठता है कि कविता कहाँ है? क्या वह किसी उक्ति में है या पद में या वाक्य में? क्या वह किसी शब्द में या कि वह समूची कविता के निर्माण में है? क्या उसमें कोई संपूर्णता है या उसे वह बाहर से लेनी पड़ती है। यदि वह रचना है तो वह संपूर्ण होगी अर्थात् कविता अपने उपयोग, अपने सौंदर्य के लिए एक बार बन जाने के बाद की निर्मिति है; जिसे समझने के लिए उसमें जगह बनानी पड़ती है, स्पेस बनाना पड़ता है, उसकी पूरक चीज़ें जुटानी पड़ती हैं या उसे तोड़ना पड़ता है।

कविता में हमारा प्रवेश शब्दार्थ के द्वार से ही होता है। कविता की संरचना दरअसल शब्दार्थ की ही संरचना है। संस्कृत काव्यशास्त्र में शब्दार्थ संबंध को नित्य माना गया है। 'वाक्यपदीय' में कहा गया है—“आत्मरूपं यथा जाने ध्येयरूपं च दृश्यते, अर्थरूपं तथा शब्दे स्वरूपं च प्रकाशयते।” शब्द यदि न हो तो अर्थ प्रकाशित कैसे हो। बहुत शास्त्रीय शब्द है—‘प्रकाशित’। अर्थ प्रकाशित होता है। आज के जमाने में शब्द की प्रतीति पर बहुत जोर देने का रिवाज नहीं है अर्थात् हम शब्द की सत्ता को नकारने लगे हैं और इसीलिए हमारा जोर देने का रिवाज नहीं है अर्थात् हम शब्द की सत्ता को नकारने लगे हैं और इसीलिए हमारा जोर तत्त्वार्थ पर ज्यादा हेंद्रित हो गया है। आज शब्द पर जोर देने का मतलब कविता को रूपवादी सिद्ध करने की प्रवृत्ति में भी है। मीमांसकों ने शब्द और अर्थ का संबंध हृदय और बुद्धि से माना है। निरुक्त में यास्क ने समाज के व्यवहार-पक्ष को सामने रखकर शब्द में अर्थप्रधानता की चर्चा की है। ‘वाक्यपदीय’ में तो भर्तृहरि ने सीधे लोक से शब्दार्थ का संबंध बिठाया है। आचार्य मम्मट ने काव्यार्थ के लिए वाचक शब्द का इस्तेमाल किया है—“साक्षात् संकेतिकमर्थमभिधत्ते स वाचकः” यानी जो शब्द साक्षात् संकेत से अपने अर्थ को व्यक्त करता है वह वाचक शब्द है। संस्कृत काव्यशास्त्र में शब्दशक्ति को काव्य-व्यापार भी कहा गया है। सुधीश पचौरी की मान्यता है कि “यदि हम आग के चित्रविज्ञान के संप्रेषण पर ध्यान दें तो हमें चकित रह जाना पड़ेगा कि वे सी काव्य-व्यापार का कौशलपूर्ण इस्तेमाल करते हैं। दुनिया की तमाम विज्ञापन-एजेंसीज इस मामले में रचनाकारों से कहीं आगे निकल गई हैं। वे शब्द और चिह्न के अनेक स्तरीय प्रयोग करते हैं।” (कविता का अंत, पृष्ठ-11, 12) भर्तृहरि ने ‘वाक्यपदीय’ में शब्दार्थ के अनेक स्तर पर सविशेष होने की बात पर यों कहा — “सामर्थ्यमौचितौ देशः कालो व्यक्तिस्वरादयः। शब्दार्थस्थानवच्छेदे विशेषस्मृतिहेतवः॥” अर्थात् वाक्य प्रकरण, अर्थ, औचित्य, देशकाल आदि उपाय शब्दार्थ का ‘अनवच्छेद करते हैं यानी वे शब्द के ‘अभिप्रेतार्थ’ तक पहुँचते हैं। उपचार से अनेकार्थता की क्षमता बढ़ती है—उपचार यानी रूपक।

साध्य और साधन के समन्वित रूप को ही शुक्ल जी ने कविता माना है। उन्होंने लिखा है—“आधारवस्तु या तथ्य का बोध रसानुभूति नहीं है; उसके मार्मिक पक्ष की अनुभूति को उत्पन्न करने वाला शब्द-विधान ही काव्य है।” (रसमीमांसा, पृष्ठ-274) स्पष्टतः यहाँ शब्द-

विधान को ही काव्य कहा गया है जिसमें आधारवस्तु या तथ्य के मार्मिक पक्ष की अनुभूति उत्पन्न करने की क्षमता होती है। अन्यत्र भी शुक्ल जी ने इस बात को रेखांकित किया है—“उक्ति ही काव्य होती है। यह तो सिद्ध बात होती है। हमारे यहाँ भी व्यंजक वाक्य ही काव्य माना जाता है। अब प्रश्न यह है कि कैसी उक्ति, किस प्रकार की व्यंजना करने वाला वाक्य।” (चिंतामणि-1, पृष्ठ-174) इस कथन की व्याख्या करते हुए शुक्ल जी लिखते हैं—‘काव्य की रमणीयता किसमें रहती है—वाक्यार्थ अथवा लक्ष्यार्थ या व्यंग्यार्थ में? इसका बेधड़क उत्तर यही है कि वाच्यार्थ में चाहे वह योग्य और उपपन्न हो अथवा अयोग्य और अनोपपन्न। मेरा यह कथन विरोधाभास का चमत्कार दिखाने के लिए नहीं है। यह सोलह आने ठीक है। कोई रसात्मक या चमत्कार विधायक उक्ति लीजिए। उस उक्ति में ही अर्थात् उसके वाच्यार्थ ही में काव्यत्व या रमणीयता होगी। उसके लक्ष्यार्थ या व्यंग्यार्थ में नहीं।’ शुक्ल जी की विशेषता यह है कि कविता में वे उक्ति तक नहीं रुकते बल्कि वे उससे आगे तक जाते हैं और पता लगाने की कोशिश करते हैं कि उसमें व्यक्त होने वाला अर्थ किस कोटि का है। वे लिखते हैं—“अब पूछिए कि जो योग्य और बुद्धिग्राह्य अर्थ खोदकर निकाला जाता है उसका काव्य में प्रयोजन क्या है, वह किस काम आता है।” शुक्ल जी उक्ति को कविता मानते हुए भी उक्ति मात्र को कविता नहीं मानते। इसी आधार पर उन्होंने क्रोचे के अभिव्यजनाववाद का खंडन किया है।

यह तो मैंने कविता का एक पक्ष रखा। यूँ भारतीय काव्यशास्त्र और पाश्चात्य काव्यशास्त्र में कविता-प्राप्ति के विभिन्न उपकरणों एवं सोपानों के बारे में विस्तृत विचार किया गया है; मसलन रस, ध्वनि, अलंकार, औचित्य, रीति, वक्रोक्ति, उदात्तता, अनुकृति, विरेचन, अभिव्यंजना इत्यादि। इनमें ऊपर-ऊपर से चाहे जितना संघर्ष दिखता हो, चाहे जितने मतग्रह दिखते हों; लेकिन अंततोगत्वा ये सभी सिद्धांत या मत कविता के मूल उत्स, व्याप्ति, प्रभाव और पहुँच का ही विस्तार करते नज़र आते हैं और मात्र कविता ही क्या, समूचे कलानुशासन थोड़े-बहुत फर्क के साथ यही भूमिका अपनाते हैं। मैथ्यू आर्नल्ड जब यह कहते हैं कि साहित्य जीवन की आलोचना है तो निश्चय ही वे उसके विस्तार, व्याप्ति और अनुगूँज को ही उजागर कर रहे होते हैं। इसी तरह लौजाइनस जब उदात्त की चर्चा करते हैं तो उनका आशय संकीर्णता से उन्मुक्तता का ही बिंदु है। वे ठहराव या जड़ता के खिलाफ उदात्त होने को संजीदगी के साथ लेते हैं और उसे अत्यंत सार्थक और महत्वपूर्ण मानते हैं।

कविता या समूची कलाओं पर भिन्न-भिन्न दृष्टियों से विचार किया जाता रहा है; मसलन उद्गम वस्तु, टेक्नीक, व्याप्ति प्रभाव, उपादेयता आदि की विभिन्न सारणियाँ। आज हम देखें कि कविता विज्ञान, टेक्नॉलाजी, प्रौद्योगिकी की संचार-माध्यमों से टक्कर ले रही है। मेरा ऐसा मानना है कि संचार-माध्यमों के फैलाव की वजह से हमारे संवेदनतंत्र प्रभावित हो रहे हैं। कविता के प्रायोजित होने का खतरा भी निरंतर मँडरा रहा है। असल की जगह नकल का बोलबाला बढ़ रहा है। फिर भी मैं सोचता हूँ कि कविता किसी वर्कशॉप में संभव नहीं हो सकती। हाँ कविता की प्रक्रिया का शिक्षण-प्रशिक्षण हो सकता है' लेकिन उसका सहृदय राग और 'कला सौष्ठव' बेमालूम तरीके से ही संभव होता है।

एक दौर ऐसा भी आया जब कहा गया कि यह कविता की वापसी का समय है अर्थात् कविता कहीं चली गई थी- पर्यटन में, तीर्थ यात्रा में या किसी प्रीतिभोज में शामिल होने। इस तरह की बातें वही करते हैं; जो अपनी बात से चमत्कृत कर देना चाहते हैं। जब तक जीवन है, आदमी के अंतरांग हैं तब तक कविता के कहीं जाने का सवाल ही पैदा नहीं होता। कविता हमारे समग्र विकास के साथ चल रही है। वह किसी भ्रम में नहीं है। मैं यह मानता हूँ कि हमारा यह समय कठिन भी है और क्रूर भी। 'शब्द' अपनी पहचान से अलग अपनी अर्थगर्भिता से अलग किए जा रहे हैं। स्नेह के स्थान पर घृणा को सिंहासन पर बिठाया जा रहा है। धर्म की आड़ में हत्याएँ, क्रूरताएँ और नफरत परोसी जा रही है। शोषण-उत्पीड़न के तरीके अंदाज़े बर्याँ बदल गए हैं। शांति और सद्भाव की जगह 'आतंक' का हड़बोंग मचाया जा रहा है जाहिर है कि आदमी की समूहिक विरासत के स्थान पर अलग-अलग तरह से 'स्तूप' खड़े किए जा रहे हैं।

कविता लिखने का कोई निश्चित पैमाना नहीं है और वह किसी भी कीमत में हो भी नहीं सकता। कविता एक तरह से सिद्ध नहीं होती। उसके अनंत रास्ते भी हो सकते हैं। कविता किसी भी सूरत में हास्य की चीज़ नहीं है। इसलिए कविता जितनी कालयात्री है उतनी ही भावयात्री भी है; लेकिन उसका सबसे बड़ा गुण है कि वह हर जगह पाई जा सकती है; वह हर जगह गाई जा सकती है। कुछ लोग रोते रहते हैं कि गजब हो गया, मुक्त छंद में कविता लिखी जा रही है। छंद में कविता न हो तो वे इसे कविता का चीरहरण कहते हैं। वाह! कविता वह है जो होना चाहिए-छंद में। यह उसी प्रकार का खोखलापन है कि फला चीज़ खाओ या पहनो तो आप नागरिक हैं; अन्यथा

नहीं। जी नहीं! जी नहीं!! कविता छंद में भी हो सकती है, मुक्तछंद भी हो सकती है, छंदयुक्त भी हो सकती है-कौन कितना उसको साध सकता है और कोई उसे कैसे पा सकता है? कविता साधने की चीज़ है। वह हमेशा साधना की माँग करती है। आप जो कर सकें, जिसे सिद्ध कर सकें, जिसे ठोंक-बजा सकें उस कविता को संभव करें। किसी ने आपको मजबूर नहीं किया। धूमिल के शब्द याद आ रहे हैं-“यह बहुत पहले की बात है/जब कविता कहीं किसी निर्जन में/किसी बौखलाए हुए आदमी का/संक्षिप्त एकालाप है।”

वस्तुतः कविता न तो वाग्विलास है, न कहास और न चमकास। कविता जिंदगी की हक्रीकृत और प्यास है। कविता हो या साहित्य, बिना ज़मीर और इवॉल्वमेंट के, बिना साहस के आप सही ढंग से साँस भी नहीं ले सकते। कुँवर नारायण जी ने सच ही लिखा है-“कोई दुःख मनुष्य के साहस से बड़ा नहीं/वही हारा जो लड़ा नहीं।” हमारे समाज को बाँझ बनाने वाली कविता की हमें कत्तई ज़रूरत नहीं है। कविता हमारे जीवन का प्रेम-संसार है; लोहा है और धमन-भट्टियों में बदले जा रहे समाज और राजनीति की आग भी है। हम इसे हास्य के इलाके में धकेले जाने के खिलाफ़ हैं।

कविता का इलाका कभी संकीर्ण नहीं होता। समूचा संसार उसकी साँसों में बसता है। जब से मैंने कला, साहित्य और कविता को समझने की नज़र पाई तब से यही शिकायत सुन रहा हूँ-कविता पढ़ी जा रही है; लिखी जा रही है; प्रकाशित हो रही है। उसे दुकानदारी में बदला गया। उसका बाज़ार सजाया गया। उसको बर्खास्त किया गया। जो कविता व्यवस्था के ताम-झाम से बड़े-बड़े मंचों से पढ़ी-सुनाई जाती है उससे बहुत श्रेष्ठ कविताएँ हमारे देश में जीवन में, परिवेश में बहुत साधारण-से-साधारण लगने वाले लेखकों के पास हैं; लेकिन उनकी कोई मार्केटिंग कंपनी नहीं है; उनका कोई धना-धोरी नहीं है; बल्कि वे बहुत बड़ी त्रासदियों और ज़माने के दुःखों के यातनामय साक्ष्य हैं। वे हमारे जीवन-संग्राम में यही निवास करते हैं बकौल केदारनाथ सिंह-“किसी रजिस्टर में स्थायी पते की तरह।”

कविता और पाठक का रिश्ता बहुत नाजुक होता है-बेहद गंभीर और संवेदना से लिपटा हुआ। इस दूरी के लिए अतिबौद्धिकता भर जबाबदेह नहीं होती है; बल्कि कविता का नक़लीपन, लेखक का द्वैत और उसका विज्ञान भी आड़े आता है। उसका स्वार्थ में उलझा हुआ संस्कार भी ज़िम्मेदार है। यही नहीं, उसका झूठ भी भरपूर भूमिका

निभाता है। यहाँ मैं कलाकारी भर की बात नहीं कर रहा हूँ। भाषा का लिजलिजापन, भाषा का बनावटीपन भी हमारे भी सामने आया करता है। वहाँ मसखरापन की लीला और माधुरी भी हुआ करती है। कविता की विविध औजार भी इसकी भूमिका निभाते हैं। जाहिर है कि लेखक को अपने व्यामोह के चमत्कार से भी बाहर निकलना होता होता है। इसलिए एक नहीं, कई चीज़ें एक साथ काम करती हैं—जीवन का ताप और ऊष्मा भी। इस प्रश्न को हम अपने समय की वास्तविकताओं, जीवन-मूल्यों के निरंतर ह्रास और रिश्तों में बढ़ती दूरियों में भी आसानी से खोज सकते हैं। कविता भर से नहीं बल्कि साहित्य से भी पठनीयता की दूरी उछाल पर है। इसके लिए कविता के शॉपिंग कांप्लेक्स भी उत्तरदायी हैं। पूर्व में हम यात्रा करते थे तो एक दो किताबें या पत्र-पत्रिकाएँ भी हमारे साथ-साथ यात्रा करती थीं और हमारे साथ चलती थीं। वे अकसन हमारे खाली समय में स्थान बनाती जा रही हैं। जो भी घट रहा है उसका आकलन लिजलिजेपन की खंदक-खाइयों में न देखें। कविता हमें जीवन की वास्तविकता से जोड़ती भी हैं।

अब हर जगह समय का रोना है। यही एक विशेष किस्म का जादू-टोना है। सामान्य पाठक तक कवि-सम्मेलन और मुशायरों के चोंचलों में फँसे हुए हैं। लगता है, वे वहाँ जीवन की वास्तविकता को भुला देने के लिए जाते हैं या मजा लेने के लिए। इसके संपूर्ण रूप को न भी स्वीकार करें, आधा-अधूरा भी मानें; लेकिन एकदम झूठलाया भी नहीं जा सकता। वे लगे हैं अपने को भुलाने में। औसत लोग भी कवि-सम्मेलन सुनने नहीं, देखने जाते हैं। वहाँ सौंदर्य भी मौजूद है और जीवन को चुटकुला, जोक्स और गुदगुदी की दुनिया में ठेल देने का करिश्मा भी। कविताओं में तरह-तरह के कवि हैं; रसों की उखाड़-पछाड़ है; कंठ की अदायगी और मुखड़ों की करामात है। सब जगह कविता भले न हो, चुहलबाजी तो है; लहालोट है; कंठ की अदायगी और मुखड़ों की करामात है। और मनोरंजन तो है ही। भरपूर मजा लेने की प्रवृत्ति भी है। हैं-हैं, हूँ-हूँ तो है ही, जबकि कविता मात्र मजा लेने की चीज़ नहीं है। कविता जीवन की हमेशा गाढ़ी चीज़ रही है। कविता को जब भी सस्ते मनोरंजन और हास्य के इलाके में धकेल दिया जाता है तो सचमुच उसका यही हश्र होता है।

कविता और साहित्य के मसखरे हर चीज़ को छिछला करने में प्राणपण से जुटे हैं। वे साहित्य को भूलुंठिन करने में लगे हैं; पैसा बटोरने में भिड़े हैं। यहाँ किसी-

किसी को नौकरी की तुलना में ज्यादा पैसा बटोरने में आनंद है। यात्रा करना, प्रशंसा, स्तुति और वाहवाही अतिरिक्त है। जैसे कवि सम्मेलन और मुशायरे ठेकेदारी प्रथा की भेंट चढ़ गए हैं उसी तरह साहित्य के लिए चलने वाले तमाम तरह के समूह विभिन्न रूप-रंगों में शब्दों की बाजीगरी से घिर चुके हैं। वाहवाही और छटपटाहट, किताब-प्रकाशन-लीला और साहित्य का बाज़ार वहाँ फूल-फल रहा है। किस-किस के लिए रोइएगा या कलपिएगा। लेखक भर चमक-दमक में नहीं होता; बल्कि पाइक भी होता है। हमारे इस दौर में अलोचना लगभग विसर्जित होने की कगार पर है। आलोचना को बर्दाश्त करने की क्षमता का लगभग विस्थापन हो चुका है। यही साहित्य के लिए सबसे बड़ी चुनौती है। हम ज़िंदगी की हक़ीक़त और मुश्किलों को लेकर कत्तई गंभीर नहीं हैं। उसे चुटकुलों और जोक्स में गुजार रहे हैं।

बड़ा वीभत्स और क्रूर समय है। यह पूजा-अर्चना, भक्ति और उपासना का खूँखार समय है। यह चापलूसी का, निर्लज्जता, निरंकुशता, अकड़ और अपने तक को आसानी से बेच डालने का भी विशेष किस्म का अभियान और समय है। यह अपने को चमकाने या तिरोहित करने का भी व्यापक समय है। यह सब तो खूब अच्छे से हो रहा है। जाहिर है कि यह सबसे ज्यादा अपनी ही निगरानी का वक्त है। हम सुरक्षित रहेंगे तो लोगों के दुःख-दर्दों में शामिल हो सकेंगे। अब तो कुछ लोग कविता की थक्कियाँ-पर-थक्कियाँ लगाते हैं; तरह-तरह की कविताएँ ठोंकते हैं। हो सकता है, जो बातें आप दस-पंद्रह कविता-संग्रहों में न कर पाएँ हों एक संग्रह में बहुत पुख्ता तरीके से समाज के सामने ला दें। हम लोग संख्या में यानी परिमाण के चक्कर में ज्यादा हैं; जीवन की क्वांटिटी या गुणवत्ता में लगभग नहीं।

लेखक जनता से शनैः-शनैः कट रहा है। पठन-पाठन से भी उसकी दूरी बढ़ी है। मुझे लगता है कि सच्चा पाठक सच्चे लेखक से बहुत प्यार करता है और आदर भी। किसी मेरी रचना के छपने पर जाने कितने पाठकों के फ़ोन आते हैं कि क्या कहूँ पाठक से बड़ा लेखक का चाहने वाला भी कोई दूसरा नहीं होता, लेकिन सच्चे पाठक को सच्चे लेखक कम मिलते हैं। आरोपित लेखक को उसके द्वारा बनाए गए प्रशंसक तो मिल जाएँगे; लेकिन सच्चे पाठक किसी भी सूरत नहीं मिल पाएँगे। झूठ सच को पछाड़ने पर तुला है। कविता न तो विचार से बनती और न भाव से; बल्कि वह इन दोनों के द्वंद्ववात्मक

अंतर्सम्बन्धों के विस्तार में जीवन के घनत्व से और संघर्ष से ही संभव हो पाती है। वह चीज़ ही कुछ और है। मेरे ख्याल से सहज सरल संवेदना से लिपटा है कविता का देश; जिसमें विचार भी हैं और जीवन के प्रति आकर्षण और समर्पण भी। कविता में जीवन की वास्तविकता, जटिलता, आपाधापियाँ और कभी न बुझ सकने वाली प्यास है। कोई भी कविता जनजीवन की व्यापकता से अलग नहीं हो सकती। कविता कृत्रिमता से बहुत दूर है। अष्टभुजा शुक्ल की कुछ पंक्तियाँ पढ़ें—“चिरकाल से मान्यता के लिए/आवेदन करती आ रही है बिलख रही स्त्री/और हर काल में/निरस्त कर दी जाती है उसकी मान्यता/हर बार/शंख के भीतर से/साबुत निकल आने की कला/दीखती रही स्त्री/हर बार घोंघे की तरह/सामने मिला पुरुष।”

(मान्यता नामक कविता)

कविता का जीवन से रिश्ता कोई आज का रिश्ता नहीं है। जब से हम हैं तब से कविता है। न मनुष्यों को खूंटों से बाँधा जा सकता है और न कविता को। कविता एक लंबे कालखंड से हमारे सुख-दुःख, आशा-विश्वास में साथ-साथ है। कभी गोरख पांडेय ने लिखा था—“हमारी स्थिति सिर्फ ऊपर से फैले अंधकार के बीच नहीं है; हम नीचे से उत्पीड़ित लोगों के संघर्ष से फूटती हुई रोशनी के बीच में भी जी रहे हैं और कविता सिर्फ अंधकार के बारे में नहीं, अंधकार को तोड़ने वाली रोशनी के औजारों के बारे में भी लिखी जा रही है और लिखी जाएगी।” कविता का व्यापक परिप्रेक्ष्य और उसके विविध रंग हैं। कविता की ज़रूरत हमें हर समय में है। कविता की नज़र सब जगह है। कभी-कभी कविता हमारी डायरी के पन्नों में ही साँस लेती रहती है। सोचती है कि लिखने वाला कब उसकी खबर लेगा और दुनिया के रंगमंच में छोड़ेगा? कविता अनुपस्थित होकर भी आवाजाही करते हुए उपस्थित रहती है। इस दौर में कविता संकटों में घिरी है और लहलुहान है। एकांत श्रीवास्तव ने सच ही लिखा है—“जटिल यथार्थ की अभिव्यक्ति आज कविता की सबसे बड़ी चुनौती है। अपनी सीमाओं से जूझते हुए, अपनी ज़रूरी शर्तों को बरकरार रखते हुए कविता इस चुनौतीका सामना करती है।” (‘दूसरे सच की खोज’ निबंध से) हमारे जीवन की ओर समय की दिक्कतें कोई एक दो तो हैं नहीं; बल्कि उनकी एक लंबी फेहरिस्त है। इन सबको चुटकियों में सुलझा पाना आसान काम नहीं है।

समकालीनता बहुत आसान सी लगने वाली संज्ञा नहीं है। उसका क्षेत्र व्यापक भी हो सकता है और सीमित

भी हो सकता है और वह बहुत दूर तक जा भी सकता है। जाहिर है, जो कविता हमारी ज़िंदगी और अस्मिता, सपनों के साथ नहीं है; हमारे मूल्यों के साथ नहीं है; जो समय-समाज के हिज्जे नहीं पढ़ सकते वे समकालीन होते हुए भी, आज का होते हुए भी, इस दौर का होते हुए भी हम सबसे एकदम अलग-थलग हैं। उसी प्रकार जो दो हजार वर्ष क्या कई हजार वर्ष पहले हुआ था, यदि वह हमारे समय में हस्तक्षेप कर रहा है; हम सबकी चिंताओं से बुनियादी रूप जुड़ा हुआ है; हमें आज के प्रश्नों से गुथम-गुथ्या होने, सामना करने की शक्ति देता है तो उसे हम अतीत में होते हुए भी समकालीन कह सकते हैं या मान सकते हैं। वह निश्चय ही समकालीन है। इसी को संस्कृत के कवि और महान नाटककार भवभूति ने समानधर्मा शब्द के माध्यम से उजागर करते हुए जोड़ा था। यह समानधर्मा धर्म के संदर्भ में तो कतई नहीं है। यह समानधर्मा कोई अलग ही चीज़ है। शायद पहली बार भवभूति ने शंबूक-प्रसंग को उठाया था। यही नहीं, जो हमारी ज़िंदगी के जीवंत अतीत को और वास्तविकताओं को सुंदर ढंग से जोड़ता है; सम्यक् मूल्योंकन और वस्तुनिष्ठता के साथ हमें अपने आप में जज्ब कर लेता है, वह हमारा समकालीन है।

भवभूति और कबीर आज भी स्मरणीय हैं। वे नितान्त ताजे और समकालीन हैं। समकालीन को मैं किसी गणना-पत्रक में शामिल करने के खिलाफ हूँ। किसी पोथे-पोथने में शामिल करने के खिलाफ हूँ—

“ये नाम केचिदिह नः प्रथयन्त्यवज्ञाम्

जानन्ति किमपितान प्रति नैष यत्नः

उत्पत्स्यते तु मम कोऽपि समानधर्मा

कालो ह्ययं निरवधिर्विपुला च पृथ्वी॥”

समकालीनता को किसी एक सीमा में नहीं बाँधा जा सकता। उसका फैलाव, उसका पाट, उसका संदर्भ और उसका प्रक्षेत्र बहुत दूर तक जाता है। उसकी कौंध का एरिया भी बहुत बड़ा है। मुझे समकालीनता का पूरा क्षेत्र इसी रूप में दिखाई पड़ता है यानी अति नियरे अति दूर। जाहिर है, हमें समकालीनता से किसी तरह आतंकित नहीं होना चाहिए। समकालीनता का रिश्ता यथास्थितिवाद से कतई नहीं हो सकता।

कविता हो या कोई अन्य विधा, राजनीति हो या हमारे जीवन के विभिन्न अनुशासन के रूप, वे कहीं भी सिमट नहीं सकते। उनकी सीमाएँ हमेशा न तो सील की जा सकती और न उन्हें पूरी तरह से घेरा जा सकता है। जाहिर है कि हम सभी एक अधूरेपन के एहसास में रहने

और जीने वाले लोग हैं। हम पगे हैं जीवन की विराट गंध से। हमने बहुत कुछ खो दिया है। हालाँकि बहुत कुछ पाया भी है; लेकिन जिंदगी के लिए सब कुछ हासिल नहीं किया जा सकता है। फिर भी बची है तो सिर्फ हमारे शरीर की परछाइयाँ, हमारा जमीर, हमारी अस्मिता, दृष्टि और दृष्टिकोण के साथ हमारी संबद्धता, मानदंड और प्रतिबद्धता। हम अपने चारों ओर के जीवन को खोजना चाहते हैं और दिग्-दिगंत में खुशियाँ बोना चाहते हैं; जबकि निराशाओं के थूहर जंगलों के बीच समय गुजर रहा है। धर्मवीर भारती के काव्य-नाटक 'अंधा युग' का एक अंश है—“यह एक तत्व है बीज रूप स्थित मन में/साहस में, स्वतंत्रता में नूतन सर्जन में/वह है निरपेक्ष उतरता है पर जीवन में/दायित्व युक्त मर्यादित मुक्त आचरण में/उतना जो अंश हमारे मन का है/वह अर्धसत्य से ब्रह्मास्त्रों के भय से/मानव भविष्य को हरदम रहे बचाता/अंधे संशय, दासता, पराजय से।”

कविता मात्र कविता नहीं है; बल्कि अपने समय और परिस्थितियों का आईना भी बन जाती है। बड़ा-से-बड़ा कवि कविता लिखते वक्त इस बात से डरता है कि कहीं उसकी कविता खराब या अप्रभावी न हो। मुक्तिबोध ने कहीं लिखा था; जिसका हिंदी अनुवाद कुछ इस तरह है—“तीसरे दर्जे की कविता लिखते मत डरो; क्योंकि तभी तुम पहले दर्जे की कविता लिख पाओगे।” कविता का कोई एक रंग नहीं होता। वह बहुरंगी होती है और बहुआयामी भी। उसी तरह उसके कई प्रकार के मिजाज होते हैं; अनेक ध्वनियाँ होती हैं। इन मिजाजों की अनेक स्थितियाँ होती हैं; प्रस्तुतियाँ होती हैं। मुझे पंकज चौधरी की कविता ‘दशरथ माँझी की कुछ पंक्तियाँ याद आ रही हैं—“पहाड़ को पहाड़ जानकर/उन्होंने पहाड़ को ढाना/नहीं बंद कर दिया होगा/पहाड़ उन्हें तब तक पहाड़ लगा होगा/जब तक कि उन्होंने/पहाड़ को ढाना नहीं शुरू किया होगा/....दुनिया के जितने भी पहाड़ ढाए गए/दशरथ माँझी बनकर ही ढाए गए।” बीसवीं शताब्दी के बाद जो कविता लिखी जा रही है उसकी परंपरा और विकास, समय और संघर्ष की पेचीदगियाँ कहीं ठहरी हुई नहीं हैं। उनका निरंतर मुठभेड़ समय, समाज और राजनीति से और परिवेश से हो रहा है।

जार्ज आर्वेल ने सच की कहा था—“वस्तुनिष्ठ सत्य की अवधारणा दुनिया से मिट रही है। अब झूठ इतिहास बनाएँगे।” अपने समय के दर्पण में इसे आसानी से देखा जा सकता है; इसे अनुभव किया जा सकता है। जीवन एक महासंग्राम है और इसकी अच्छाइयाँ अपनी जगह है

और इसके गलत पक्ष दूसरी जगह हैं। ऐसे में कविता सच बोलने का दुस्साहस करती है और सत्ता की अपेक्षा का शिकार भी होती है। सत्ता और कविता हमेशा परस्पर विपक्ष में रहते हैं। इसके पीछे यही एक बड़ा कारण हो सकता है दुर्भाग्य से हमें अँधेरे से प्रकाश की ओर जाना चाहिए; लेकिन उलटा हो रहा है। हम प्रकाश से अँधेरे की ओर अन्याय की ओर मूल्यहीनता की ओर जा रहे हैं। एक डर लगातार समाता जा रहा है। लोग बोलने से डर रहे हैं। कविता चुप्पियों के खिलाफ़ लड़ती है। कविता को कहने के परिसर में लाना होगा। स्मृति की जगह भूलना सार्वजनिक व्याधि के रूप में फैलता जा रहा है। समय के सच को, सवालों को, निर्लज्जताओं को हम तोपते या छिपाते जा रहे हैं।

कविता को भाषा, मानवीय मूल्यों, नैतिकताओं और हर हाल में सच के साथ खड़ा होना है। कविता नहीं खड़ी होगी तो आखिर कौन खड़ा होगा। समकालीन हिंदी-कविता के रंग बहुत हैं; क्योंकि यह कविता हमारी जीवन की जड़ों से फूल-पत्तियों से शाखाओं से अपना अस्तित्व बनाती है; अपना पोषण करती है। इसलिए कविता की भूमिका बहुत व्यापक हो जाती है। इसके भीतर आदिवासियों के, दलितों के, स्त्रियों के दुःख उठा रहे लोगों के, गाँव के किसानों के, जाने किस-किस मुहावरों से बाहर आकर भी हमें जीवन को देखना चाहिए। जैसे कहा जाता है कि जड़ है तो सब कुछ है। युवा कवयित्री लवली गोस्वामी की कुछ पंक्तियाँ हैं—“जड़ें ही जिंदा नहीं रखती पेड़ को/पेड़ भी जड़ों को जीवन देते हैं/.....जड़ों से जुड़े रहने की वफादारी/हमेशा बड़ा नहीं बनाती/बड़ी होती है मूल से कटकर/नई मिट्टी में पनप जाने की जिद/मैं चाहती हूँ कहावत में/एक बार यह भी कहा जाए/कि जड़ों को/अपना पेड़ नहीं भूलना चाहिए/शाखाओं को आना चाहिए/नया पेड़ हो जाने का हुनर।” (जड़ों के बारे में)

कविता के संग-साथ अक्सर ऐसा होता रहता है कि जैसे-जैसे युग परिवर्तित होता है उसी तरह दुनिया में चल रही बहुत सारी चीज़ों में परिवर्तन घटित होते हैं। कवि-लेखक को विशिष्ट प्राणी के रूप में न देखा जाए। वह भी एक आदमी है और यहीं का नागरिक है। जीवन को पढ़ना-समझना और फिर ढंग से कहना, यही एक विशेष सिलसिला है। कविता या कोई भी विधा जीवन के वृहत्तर रूपों से ही सामने आती है। पढ़ना ज्यादा, लिखना कम की भाव-भूमियाँ बदल गई हैं। देखना और अपने अनुभव-संसार में ऐसा शामिल करना कि वह हमारे जीवन का अविभाज्य हिस्सा बन जाए। फिर हर लेखक

की अपनी एक खास प्रकृति होती है। उसी का आगे वह विकास करना चाहता है। इंफॉर्मेशन टेक्नोलॉजी के इस दौर में कविता ही नहीं, हर विधा के सामने गंभीर चुनौतियाँ हैं। वैसे समूचे जीवन में चुनौतियाँ-ही-चुनौतियाँ हैं। दूसरे शब्दों में कहें तो चुनौतियाँ ही जीवन हैं। चुनौतियों के बिना हमारा निर्वाह नहीं हो सकता। जीवन में सहजता आखिर कहाँ बची है? जीवन हरा है और वह एकदम ताबड़तोड़ हड़बड़ी नहीं चाहता है। चीजें धीरे-धीरे ही सही, उन्हें हासिल करने की कोशिश की जा सकती है। जल्दी-जल्दी में कुछ पा पाना आसान नहीं होता। धैर्य, संयम और संघर्ष मोटे तौर पर ही कुछ जरूरी उपकरण हैं। हैं तो कई। हमारा समूचा जीवन एक लंबी और सतत साधना, समर्पण, प्रत्याशा और समय, समाज का विस्तार और दर्पण ही तो है? (भी तो है)

सचमुच जिसे कविता कहा जाता है, उसमें निहित कुछ पंक्तियाँ ही कविता होती हैं; बाकी तो कविता का ढाँचा या स्ट्रक्चर होता है। बहुत कम ऐसे निष्णात कवि होते हैं; जिनकी कविता की गूँज बहुत दूर तक जाती है और जो हमें सोचने-समझने-बुझने के लिए प्रेरित करती हैं। ऐसे कुछ महान कवि हैं; उनसे हमें सीखना चाहिए; उन्हें आदर और सम्मान के साथ प्रेम करना चाहिए। क्या कविता से प्रेम किए बगैर कविता संभव है? नहीं न? कविता शब्दों का न तो इंद्रजाल है और न कोई ढोंग। उसी प्रकार क्या हम अपने निजी परिवार या रिश्तों से प्रेम किए बगैर प्रेम का वास्तविक निर्वाह कर सकते हैं? नहीं न? आरती, पूजा, अर्चना-भक्ति के इतने दायरे हैं कि बार-बार हमें खरा मनुष्य होने से ठिठकाते हैं। हमने परिवार की उन घनी छायाओं को उसके इर्द-गिर्द घूमती सच्चाइयों से अनुभव किया ही कहाँ। स्वार्थों का बुना हुआ संसार क्षणजीवी होता है। दीर्घजीवी स्थिति तो उसके यथार्थ की होती है और वाल्मीकि ने क्रौंच के संदर्भ में ये बातें उजागर की हैं। हर प्रकार के जीवन को उन्हीं मानवीय मूल्यों और तापों से अनुभव किया जा सकता है; तापों से थाहा जा सकता है। यह केवल एक विशेष प्रकार का संकेत है। संवेदना बहुत मानीखेज चीज़ है; जो केवल हमारी जिंदगी की जरूरतों से हल नहीं हो सकती। उसके साथ हकीकतें भी होती हैं; जो हमें संदर्भवान और अर्थवान बनाती हैं। हमारी अस्मिता उच्च स्तरीयता को प्रमाणित करती है। अपवाद तो हर जगह उपस्थित हैं।

कविता का जीवंत रिश्ता जीवन से रहा है। तात्पर्य यह कि कविता ही जीवन है और जीवन ही कविता है।

जब भी कविता को जीवन से काटने के प्रयत्न हुए या उसे कला से सजाने का प्रयत्न हुआ; कविता को संग्रहालय में रखने की कोशिश हुई है; कविता ने अपना तेवर बदला; निराला ने कविता को छंदों के शासन से मुक्त कराकर उसे जीवन की अबाध बहती कल-कल धारा के रूप में पेश किया था। नई कविता गद्य के ज्यादा नजदीक है; बल्कि उसके गद्यात्मक होने को उसकी एक महत्वपूर्ण विशेषता भी मान लिया गया है। कविता से गीतात्मकता बहिष्कृत हो गई या हाशिए पर चली गई। छायावादी कालखंड में कविता की भीतरी (आंतरिक लय) भी गायब होने की शिकायतें हैं। छायावाद के पश्चात् प्रयोगवाद के दौर में विपिन अग्रवाल और प्रभाकर माचवे की कविताएँ इस तथ्य को परिपुष्ट करती हैं। मुक्तिबोध ने अपने विश्लेषण में नई कविता की दो धाराएँ बताई हैं – पहली प्रगतिवादी कविता की धारा और दूसरी प्रयोगवादी कविता की धारा। मुक्तिबोध ने जड़ीभूत सौंदर्याभिरुचि को तोड़ने का मामला उठाया था। यह अभिरुचि हमारी विकास-यात्रा में सर्वाधिक बाधक थी। कविता जब भी जड़ीभूत होती है। कोई-न-कोई आता है और कविता की समूची अर्गलाएँ तोड़ देता है; छिन्न-भिन्न कर देता है।

प्रारंभ में हमारी अभिव्यक्ति का, हमारे सुख-दुःख का समूचा माध्यम ही कविता थी अर्थात् कविता जीवन का पर्याय थी; लेकिन समय और परिस्थितियों, परिवेश के दबाव के कारण कविता मात्र के माध्यम से अभिव्यक्ति का उफनता ज्वार साधा नहीं जा सकती। कविता के रूप भी बदल जाया करते हैं। इसलिए बहुत लंबे अरसे के बाद गद्य केंद्र में आया। गद्य ने अपना मोर्चा सँभाला। शनैः-शनैः सामाजिक-सांस्कृतिक-आर्थिक हलचलें निरंतर तेज होती रहीं। जिंदगी इतनी संघर्षशील और द्वंद्वमय हो गई कि इसे कविता में समेटना असंभव-सा जान पड़ा। कविता ने इतने आकार-प्रकार और रूप बदले कि आश्चर्य होता है। अब आलम यह है कि गद्य हमारे जीवन-संग्राम की भाषा बन गया है। हिंदी-संसार में सन् 1850 से अब तक के दौर में गद्य में हमने अपने संपूर्ण को व्यक्त करने की कोशिश की है।

यह सच है कि कविता एकदम पृष्ठभूमि में तो नहीं गई; लेकिन गद्य हमारे जीवन के विविध आयामों को घेरने और हमारी समस्याओं की जटिल स्थितियों की अभिव्यक्ति की बेचैनी का अत्यंत सार्थक सटीक और जुझारू माध्यम बना। प्रभाकर माचवे लिखते हैं कि-“काम में तरक्की हो/ओहदा बढ़े/कमाने वालों की खैर रहे/

औलाद बढ़ती रहे/मिल जाय पाव भर आटा।” दरअसल इस कविता में अपने अस्तित्व की रक्षा का प्रश्न केंद्र में है। अस्तित्व-रक्षा की चिंता का गणित है। प्रभाकर माचवे ने केदारनाथ अग्रवाल के संकलन ‘युग की गंगा’ की समीक्षा करते हुए लिखा है—“इसमें टुकड़े हैं; जिन्हें हम गद्य कह सकते हैं। केदार की कविता की अनुकृति यदि बढ़ेगी तो हिंदी-कविता एकदम समतल गद्य हो जाएगी।” हिंदी कविता की लंबी परंपरा और गद्य के तीव्रतम विकास की परिणति इस रूप में सामने आई कि कविता गद्यमय हुई तो गद्य में भी काव्यत्व का भरपूर समावेश हुआ। प्रसाद की कहानियों और नाटकों की भाषा में काव्यत्व बहुतायत में देखा जा सकता है।

यह ध्यान देने की बात है कि तारसप्तक के प्रकाशन से लेकर अब तक लंबी कविताएँ खूब लिखी गईं; मसलन मुक्तिबोध की अँधेरे में, अज्ञेय की असाध्य वीणा, त्रिलोचन की ‘नगई महारा’, धूमिल की और ‘पटकथा’ लीलाधर जूगूड़ी की ‘नाटक जारी है’, बलदेव वंशी की ‘उपनगर में वापसी’ इत्यादि। लंबी कविताओं में कथातत्त्व है और वह अत्यंत पुष्ट भी है। इस पूरे कालखंड में काव्य-नाटक भी ज्यादा लिखे गए—‘अंधा युग’, ‘कनुप्रिया’, ‘संशय की एक रात’, ‘एक कंठ विषपायी’, अग्निनीलक इत्यादि इसके सक्षम उदाहरण हैं।

नई कविताओं को लेकर एक शब्द का जमकर प्रयोग हुआ है। वह है—‘महाकाव्यात्मक औदात्य’। निराला की लंबी कविता ‘राम की शक्तिपूजा’ की उदात्तता भाषा-भाव एवं वस्तु का समर्थ सामंजस्य उस कालखंड की अन्यतम उपलब्धि थी तो नई कविता के दौर में मुक्तिबोध की ‘अँधेरे में’ कविता युग की सार्थकता का जीवंत दस्तावेज बनी। अब कविताएँ सूक्ष्म ब्यौरों पर जाती हैं; जबकि सामान्यतः कविताएँ संकेत दिया करती थीं। मुक्तिबोध की अनेक कविताओं में कहानी के तत्त्व अंतर्निहित हैं। मसलन ‘भूल गलती’ इसका अप्रतिम उदाहरण है। कविता की आंतरिक सतहों और विकास को किसी भी तरह अनदेखा नहीं किया जाना चाहिए।

युग की जटिलता ज्ञान-विज्ञान की महत्वपूर्ण उपलब्धियों ने नई कविता को बेहद प्रभावित किया है। जिस तरह से समूची दुनिया में पैसे का अंधड़ चल रहा है कि लूट-खसोट, छीना-झपटी, मार-काट और स्वार्थपरताओं ने एक विशेष किस्म का स्थायी अड्डा जमा लिया है। साथ ही पूँजीवादी, साम्राज्यवादी कुचक्र कुंडली मारकर बैठ गए हैं। इन सभी ने कविता को ही नहीं, साहित्य की अन्य विधाओं को भी भीतर तक झकझोर

डाला है। नई कविता में अन्य विधाओं के प्रभाव का एक बहुत बड़ा कारण अखबार और मीडिया भी है। रेडियो, दूरदर्शन, फिल्म और अन्य माध्यमों ने ज्ञान-विज्ञान के नए क्षितिज तो उद्घाटित किए ही हैं; जानकारीयों को शीघ्र उपलब्ध भी कराया है। सामान्यजन पूर्व की तुलना में दिन-ब-दिन अधिक मुखर हुआ है। समकालीन साहित्य की चिंता के केंद्र में मनुष्य है—मनुष्य की संघर्षशीलता, मनुष्य की स्थिति और नियति भी। इस दौर में भाववादी फिलासफी, कलावादिता आठ-आठ आँसू रो रही है। यह स्वीकार करने में कोई दिक्कत नहीं है कि समूची दुनिया में अस्तित्ववाद का दौर-दौरा रहा। हिंदी में ‘लघुमानव’ की चर्चा रही; लेकिन रचना के केंद्र में मनुष्य ही रहता आया। साहित्यवादियों ने साहित्य को शुद्ध साहित्य की दृष्टि से देखने की नई-नई तकनीकें विकसित कीं। मनुष्य को समाज से काटकर व्यक्तिवादी बनाया। अब तो जनतंत्र के नए-नए रूप बदल रहे हैं। मनुष्यता भाईचारा ही नहीं बदल रहे हैं; आचरण और व्यवहार के अन्यान्य रूप भी परिवर्तित होते जा रहे हैं।

कविता की एक नेचुरल धारा है। सच तो यह है कि विधाओं में परस्पर मिलने और अलग होने का संघर्ष चलता रहता है। कविता ही क्या, साहित्य की कोई भी विधा आज शुद्ध नहीं है। वहाँ एक दूसरे की आवाजाही बढ़ी है? तोड़-फोड़ के तमाम रूप विकसित होते जा रहे हैं? क्या मनुष्य शुद्ध है? सभी विधाओं में एक-दूसरे के तत्त्व समाहित हैं। विधाएँ टूटती भी हैं और नई विधाएँ रचती भी हैं। हरिशंकर परसाई के लेखन में कब कहानियाँ, निबंध बन जाएँ और कब रेखाचित्र हो जाएँ; निबंध, कहानियों, संस्मरणों, नाटकों एवं आलोचनाओं का स्वरूप ग्रहण कर लें, इसकी कोई गारंटी नहीं है। हो यह रहा है कि हमारा समग्र जीवन प्रयोगों, पटकथाओं और नई परिस्थितिकी की राह पर है। अंतिम रूप कुछ नहीं है?

नई कविता या समकालीन कविता के दौर में कुछ ऐसा लगता है कि एक बार पुनः पुनर्गठन (रिस्ट्रक्चरिंग) होगा। वस्तुस्थिति यह है कि ऐसा होना कविता की स्वाभाविकता या प्रकृति के लिए अत्यंत जरूरी है। इससे कविता के पैटर्न एवं कथ्य के नए आयाम खुलेंगे। समकालीन दबाव यह कि कवि अब केवल कवि नहीं रह सकते; कवि, उपन्यास, कहानी, नाटक, आलोचना आदि विधाएँ भी लिखते हैं। इसलिए यह बड़ा मुश्किल है कि वे निरे कवि ही रह जाएँ। यह साहित्य की सभी विधाओं की स्थिति है, अकेले कविता की नहीं। अब तो बाज़ार हर चीज़ में हावी है। भूमंडलीकरण और उत्तर संरचनावाद

निरंतर नए-नए धमाके कर रहा है। विज्ञापनों का ऐसा महामायाजाल फैला है कि रचनात्मकता की भी ये तमाम चीजे बेहद प्रभावित होकर नए-नए आकारों में या तो बदल रही हैं या परिवर्तित हो रही हैं। समकालीन कविता का यह ऐसा दौर है कि अब कविता में आलोचना मिलती है; सूचना मिलती है; पत्रकारिता भी होती है; सिद्धांत-निरूपण भी होता है। उसमें वक्तव्य भी होते हैं और बहस मुबाहसा भी। मैं समझता हूँ कि कविता स्वयं इस बहस में लग गई है। मिसाल के तौर पर मुक्तिबोध की 'अँधेरे में' और अन्य कविताओं में ये तत्त्व आपस में घुल-मिल गए हैं—“कविता में कहने की आदत नहीं/ लेकिन कह दूँ/वर्तमान समाज में चल नहीं सकता/पूँजी से जुड़ा हुआ मन/बदल नहीं सकता।”

धूमिल ने अपनी कविता में मुहावरों, वक्तव्यों एवं जुमलों का बेहद सधा हुआ और अत्यंत सफल और बेहतर उपयोग किया है। समकालीन कविता में व्यंग्य की धारा करंट की तरह प्रवाहित है। कविता में उपन्यास, कहानी, संस्मरण, नाटक और आलोचना के तत्त्व मौजूद हैं और निश्चय ही यह कविता के विकास के लिए, उसकी स्पिरिट और जीवंतता के लिए अत्यंत महत्वपूर्ण है। राजेश जोशी जब यह लिखते हैं—“जो इस पागलपन में शामिल नहीं होंगे/मारे जाएँगे/कटघरे में खड़े कर दिए जाएँगे/जो विरोध में बोलेंगे/जो सच-सच बोलेंगे, मारे जाएँगे/सबसे बड़ा अपराध है इस समय/निहत्थे और निरपराध होना/जो अपराधी नहीं होंगे/मारे जाएँगे”

इस कविता में हमारे जमाने की भयावहता का बेहद सटीक चित्रण है—व्यंग्य की धारा भी देखिए और उसकी उल्टा मार भी। यह पाठक की चेतना को उद्बलित करने में समर्थ है। विडंबना का अत्यंत सार्थक उपयोग है इस कविता में। इसी तरह केदार जी की एक कविता है—“मेरा बाप दो रुपए किलो घी खाता था/मैं दो रुपया किलो गेहूँ खाता हूँ/मेरा बेटा दो रुपए किलो घास खाएगा/तब तो समाजवाद आएगा।” नवें दशक के प्रारंभ में ‘कविता की वापसी’ का नारा आया था। यूँ तो कविता में समय-समय पर अनेक नारे आए, कई वाद आए, कविता के कई-कई नामकरण हुए—प्रतिबद्ध कविता, सहज कविता, ठोस कविता आदि; लेकिन कविता की मूल चिंता जीवन

ही रहा है। कविता मात्र हवाई लोक में विचरण करके कविता नहीं बनती। वह नक्षत्र-मंडलों में भी है और जीवन प्रविधि की विभिन्न धाराओं में भी है। कविता हमारे जीवन की साँस-साँस में है। जीवन हरा है तो कविता भी हरी है।

कविता को किसी हिसाब-किताब से कतर-ब्योंत से नहीं बचाया जा सकता। कविता बचेगी भी और हमें बचाएगी भी। कविता की गतिमानता ज़िंदगी की लकीर है। कविता में हम हैं और हममें कविता। कविता का होना, न होना हमारे साथ है। कविता जितनी प्राचीनता के साथ है, उससे कहीं ज्यादा नित्य नवीन और ऊर्जा के अनंत रूपों के साथ है। कविता की आवाज़ों में हम हैं और हमारी आवाज़ों में कविता है। कविता विकल्पों की तलाश है। कविता हमारे होने की तलाश है। एक कविता याद कर रहा हूँ—“मेरे बेटे/कभी इतने ऊँचे मत होना/ कि कंधे पर सिर रखकर कोई रोना चाहे/तो उसे लगानी पड़े सीढ़ियाँ/न कभी इतने बुद्धिजीवी/कि मेहनतकशों के रंग से/अलग हो जाए तुम्हारा रंग/.... और न कभी इतने भरे पूरे/कि किसी के प्रेम में बिलखना/और भूख से मर जाना लगने लगे गल्प।” (कविता कादंबरी)

कविता का जो समग्र इतिहास है और उसकी जो सतत प्रवहमान धारा है उसमें अब तक न जाने कितना कूड़ा, कचरा, न जाने कितनी हिंसा, न जाने कितना उत्पात, न जाने कितनी घृणा निरंतर बहते-बहते अंतर्धान हो गई। कविता ने क्या-क्या नहीं झेला; किन-किन खतरों को नहीं खेला। इसके समूचे व्यौरे इतिहास में दर्ज हैं। कविता प्रेम का उन्मुक्तता का समानता, बंधुत्व का राग अलापती हुई निरंतर आगे बढ़ रही है। वह समय के पहले, समय के साथ और समय के बाद भी है। उसके लिए कोई समय चाहे वह जितना कठिन हो, चाहे वह जितनी चुनौतियों से भरा क्यों न हो। कविता समय के जितना बाहर है उतना ही समय के भीतर भी है। वह सार-सार को ग्रहण करती है और थोथे को परिदृश्य से बाहर कर देती है; लेकिन सबका हिसाब रखती है और ज़िंदगी के इस महासंग्राम में उन्मुक्त होकर सफर करती है।

संपर्क : रजनीगंधा, 06, शिल्पी उपवन, अनंतपुर, रीवा (म.प्र.)-486002 मो० 7987921206

कविता में हुगली

मनीषा झा

हुगली नदी पश्चिम बंगाल में बहने वाली एक मुख्य नदी है। हुगली गंगा नदी से निकली एक धारा है। भारत के पश्चिम बंगाल में फरक्का बांध के बाद गंगा दो धाराओं में बँट जाती है। एक धारा फरक्का से चलकर मुर्शिदाबाद की ओर मुड़ जाती है। जलधारा के इस भाग को भागीरथी कहते हैं। मुर्शिदाबाद से हुगली तक की जलधारा वाले भाग को हुगली नदी कहा जाता है। इसलिए हुगली नदी को भागीरथी-हुगली नदी भी कहा जाता है। फरक्का से गंगा की जो दूसरी धारा अलग हो जाती है, वह पद्मा कहलाती है। पद्मा नदी बांग्लादेश में बहती है।

पश्चिम बंगाल के लिए हुगली केवल एक नदी नहीं, बल्कि इस राज्य की सांस्कृतिक पहचान और एक धरोहर है। यह नदी पश्चिम बंगाल के मुर्शिदाबाद, नदिया, पूर्व बर्धमान, हुगली, कोलकाता, उत्तर चौबीस परगना, दक्षिण चौबीस परगना और पूर्व मेदिनीपुर जिले में बहती है। अंत में गंगासागर में बंगाल की खाड़ी में गिरती है, जहाँ समुंद्र में इसका विलय हो जाता है।

हुगली नदी के दोनों किनारों पर कई शहर और गाँव बसे हुए हैं। अतः दोनों तटों के शहरों-गाँवों के बीच आवाजाही के लिए इस नदी के ऊपर कई पुल बने हुए हैं। 'हावड़ा पुल' विश्व प्रसिद्ध है जिसका नाम 'रवीन्द्र सेतु' है। दो अन्य बड़े पुल 'विद्यासागर सेतु' तथा 'विवेकानंद सेतु' हैं। एक और पुल 'निवेदिता ब्रिज' के नाम से जाना जाता है। 'जुबिली ब्रिज' नैहाटी और बंडेल के बीच हुगली नदी पर स्थित है। हुगली-तट पर बसे हुए शहरों में कोलकाता और हावड़ा व्यस्ततम शहर हैं। कोलकाता है, जिसे हिंदी में पहले कलकत्ता कहा जाता था और अंग्रेजी में 'कैलकटा'। इसका प्राचीन नाम 'कलिकाता' था। 'कलिकाता' से 'कोलकाता' नाम का सफर भी ऐतिहासिक है। कोलकाता के ऐतिहासिक सफर में हावड़ा का योगदान भी ऐतिहासिक है। इन दोनों शहरों को जुड़वाँ शहर भी कहा जाता है, क्योंकि ये दोनों शहर ठीक आमने-सामने बसे हुए हैं। बीच में हुगली की बहती जलधारा दोनों शहरों को गति प्रदान करती है। शहरों के जुड़वापन का उल्लेख राज्यवर्द्धन की कविता 'जुड़वाँ शहर हुगली' में इस प्रकार हुआ है—

“हुगली के पूरब में है / जाँब चारनॉक का बसाया

साहबों का शहर 'कलकत्ता' / और पश्चिम में मेहनतकशों के पसीने निर्मित 'हावड़ा'

दोनों शहरों को समभाव से जोड़ता बड़ा हृदयवाला पुल 'हावड़ा पुल' हुगली के दोनों किनारों के पाये पर टिका है दृढ़ योगी सा” (छपते-छपते वार्षिकांक, 2014)

वस्तुतः 'हावड़ा पुल' या 'रवीन्द्र सेतु' न केवल ऐतिहासिक है बल्कि व्यस्त पुलों में से एक है। आम दिनों में चौबीस घंटे में एक घंटा भी शायद इसे आराम मिलता है। इस पुल पर निरंतर टैक्सी, बस, मोटर गाड़ियों आदि के दौड़ने से यह हमेशा गतिमान बना रहता है। यह गति तब तक बनी रहती है, जब तक कोई हड़ताल या बंद नहीं बुलाया जाता। वर्तमान सदी की शुरुआत से सत्ता परिवर्तन के दिनों में आए दिन बंगाल बंद का ऐलान हो जाता था और कई दिनों तक यह बंद रहता था। पुल भी शांत-सा हो जाता था। तब नदी सत्ता-संघर्ष का गवाह बनी हुई भी शहर भर का कचरा पीती हुई आम लोगों के दैनिक पेयजल की आपूर्ति में तल्लीन अपने दायित्वों का पालन करती रहती थी, भले ही इसकी धारा मंद पड़ जाती हो। नदी का मंद पड़ जाना, पुल का शांत पड़ जाना, एक अस्वाभाविक स्थिति की सृष्टि करता था। इस स्थिति को अभिज्ञात ने अपनी कविता 'हावड़ा ब्रिज' में इस प्रकार चित्रित किया है—

“बंगाल में आए दिन बंद के दौरान किसी डायनासोर के अस्थि पंजर की तरह हावड़ा और कोलकाता के बीचोबीच हुगली नदी पर पड़ा रहता है हावड़ा ब्रिज जैसे सदियों पहले

उसके अस्थिपंजर प्रवाहित किए गये हो हुगली में / और वह अटक गया हो दोनों के बीच”

(हावड़ा ब्रिज, अभिज्ञात, कविता कोश)

यह पुल, जो हर पल हजारों लोगों को इस पार से उस पार पहुँचाता है, निश्चय ही इस राज्य के लोगों के दिलों में बसता है। नदी के पार हावड़ा में रहने वाले लोग रोजी-रोजगार के लिए इस पार से उस पार जाते हुए, पुल से गुजरते हुए एक आश्चर्य का अनुभव करते हैं। कोलकाता महानगर की भीड़-भाड़ और पसीने के बाद हावड़ा पुल पर हुगली की ताजी हवा उन्हें स्फूर्ति देती है। मनीषा झा की कविता ‘हुगली नदी’ में इस स्थिति का चित्रण किया गया है – “फिर चाहे जितनी भी जल्दी हो / काम पर जाने की / रोक ही लेती है नदी / और दे देती है / थोड़ी फरहर नमी ताकि मुस्कुरा सकें हम / कामों के बीच” (शब्दों की दुनिया, मनीषा झा, 2013, पृष्ठ संख्या-18)।

पुल पर गति का अर्थ है, सब कुछ सहज-सामान्य और स्वाभाविक रहना। पुल की गति के बंद होने का मतलब है, स्थिति असहज हो जाना।

नदी के इस पार से उस पार आने-जाने का माध्यम इस पर बने हुए विभिन्न सेतुओं से गुजरते हुए बस, मोटर और अन्य वाहन तो हैं ही, हुगली की धारा पर चलने वाला स्टीमर, फेरी आदि भी हैं। नदी का यह दृश्य राज्यवर्द्धन को सौंदर्यपूर्ण लगता है। वे लिखते हैं –

“दोनों शहरों के घाटों के बीच

जलपरी-सी थिरकती रहती हैं फेरियाँ

ढोती हैं खुशी-खुशी दिनभर मौज में सवारियाँ”

(जुड़वाँ शहर हुगली के, छपते-छपते, 2014)

हुगली पर बने पुल यहाँ के लोगों की न केवल जरूरतें पूरा करते हैं, बल्कि ये लोगों के हृदय में बसते हैं। यहाँ के लोग इस नदी से रागात्मक बोध का अनुभव करते हैं, नदी से स्वयं को जुड़ा हुआ महसूस करते हैं। नदी मनुष्य के जीवन को गति देती है, तो इसकी संस्कृति की रक्षा भी करती है। नदी संवेदनशील मन को सँवारती है और भावों को सहारा देती है। हुगली की धारा को देखकर न जाने कितनी ही प्रेम-तरंगें उठी होंगी और जाने कितने मन व्याकुल हुए होंगे और न जाने सौंदर्य और मिलन की कितनी दुनिया बनी होंगी और विलीन हुई होंगी। ‘हुगली के तट पर’ कविता में आनंद गुप्ता लिखते हैं –

“पिछली रात की याद लेकर चाँद अभी भी टंगा है आकाश में स्वर्णिम धूप में नहाया हुआ है हुगली नदी का जल जहाँ झिलमिलाती है तुम्हारी कंचन छवि” (पूर्वग्रह)

यह सुबह का समय है, जब आकाश में एक ओर चाँद उदित है, तो दूसरी ओर सूर्यादय हो रहा है। हुगली का पानी सूर्योदय की धूप में नहाकर अत्यंत सौंदर्यपूर्ण हो उठता है। इस सौंदर्य को देखकर संवेदनशील दृष्टि स्वर्णिम प्रेम से झिलमिला उठती है। नदी के सौंदर्य को देखकर प्रेम-भाव हिलोरें लेने लगता है।

प्राकृतिक सौंदर्य और मानव-प्रेम का संबंध पुरातन है। साहित्य में आदिकाल से ही प्राकृतिक सौंदर्य के बीच हृदय में प्रेम के स्फुरण के चित्र मिलते हैं। यह परंपरा आज की कविता में भी दिखती है। हुगली नदी और प्रेम-सौंदर्य का सामंजस्यपूर्ण चित्रण द्रष्टव्य है। हुगली तट पर जहाँ-तहाँ विभिन्न पार्क बने हुए हैं। यह पार्क, हालांकि नदी-तट के सौंदर्यीकरण की प्रक्रिया में बनाए गए हैं। कोलकाता जैसे महानगर की भीड़-भाड़ और सघन जनसंख्या में फूल-पत्ते, पेड़-पौधों से सजे खुले क्षेत्रों वाले पार्क का विशेष महत्व है। यहाँ अधिकांश आबादी छोटे-छोटे फ्लैट और कमरों में गुजर-बसर करती है। ऐसे में नदी तट पर स्थित ये पार्क महानगर में भी प्रकृति के खुलेपन का आनंद देते हैं। ऐसे पार्कों में ‘प्रिन्सेप घाट’, ‘मिलेनियम’ पार्क आदि अत्यंत प्रसिद्ध हैं, जहाँ प्रेमी-जोड़े कुछ समय बिता कर अपनी-अपनी भावनाओं का आदान-प्रदान करते हैं। प्रेमी-जोड़ों का दृश्य राज्यवर्द्धन को आश्चर्य करता है। वे लिखते हैं – “आत्मा जुड़ जाती है / जब भी देखता हूँ / हुगली के किनारे / प्रिन्सेप घाट या मिलेनियम पार्क में / प्रेमालाप करते जोड़ों को”।

यह दृश्य देखकर कवि को हुगली नदी की हिलोरें जीवंत लगती हैं –

“और उठने लगती है

हुगली के हृदय में भी हिलोर सागर से मिलने की”

(अक्षर पर्व, मई 2012)

हुगली की जलधारा अपने तट पर बसने वाले लोगों के प्रेम और सौंदर्य जैसे भावों का ही गवाह नहीं, उनके दुःखों की साक्षी भी रही है। उनके हृदय के दुःखों को समझती हुई अक्सर उनके आँसुओं को अपने में समेट लेती है। स्त्रियों के दुःखों से उसकी खास साझेदारी है। ‘नदी की आत्मकथा’ कविता में सुलोचना लिखती है –

“नदी के साथ

साझा है यात्रा में हमारा परस्पर अन्तर्जलीय दुःख”

(नदी की आत्मकथा, सुलोचना, www.hindvi.org)

नदी का दुःख और स्त्री का दुःख समानधर्मा है, दोनों ही दूसरों को अपना जीवन दान करती हुई, स्वयं की पीड़ा खुद में ही समेटे बहती रहती है, जीवन-चक्र को

गति देती रहती है। मनीषा झा की कविता 'अधेड़ स्त्री' में स्त्री और नदी की गति को समान माना गया है- "जैसे पी लेती है / नदी शहर भर का कीच / और बहती रहती है" (शब्दों की दुनिया, मनीषा झा)।

व्यवस्था के लिए नदी पानी का स्रोत मात्र है। पानी की आपूर्ति हो जाने पर नदी के जीवन से उसका सरोकार और कितना रह जाता है? एक संवेदनशील मनुष्य नदी को महज जलधारा नहीं मानता। उसके लिए नदी प्रकृति का एक महत्वपूर्ण अंग है, मानव-समुदाय की संस्कृति की पहचान है और सभ्यता की जान है। सुलोचना की पंक्तियाँ हैं -

"नदी महज नदी नहीं, एक प्रांत है

हर लहर उसका जनपद"

वस्तुतः दुनिया की सभ्यताएँ नदी के किनारे विकसित हुई हैं। मनुष्य की सभ्यता नदी तट पर विकसित होने के कारण मनुष्य के धार्मिक-सांस्कृतिक क्रिया-कलाप नदी के बिना संपन्न नहीं होता। आनंद गुप्ता की कविता में पश्चिम बंगाल के एक प्रमुख सांस्कृतिक दिवस 'महालया' के अवसर पर हुगली का एक चित्र इस प्रकार खींचा गया है -

"अगरबत्ती की सुगंध से

महक रहा है हुगली का यह घाट"

पितरों का तर्पण कर रहे हैं लोग"

बंगाल में इस दिन शरद ऋतु के भोर की मांगलिक बेला में शंख ध्वनि के साथ देवी-आमंत्रण और सुबह से दोपहर तक नदी-तट पर पितृ-विसर्जन कर्म का रिवाज है।

सदियों से नदी-तट पर संपन्न किए विभिन्न कर्मकांडों और धार्मिक-प्रथाओं के कारण अब नदी का स्वास्थ्य जर्जर हो चुका है। सदियों से आज तक विभिन्न समाजों में पूजा-पाठ के बाद पूजा-सामग्री और मूर्ति-विसर्जन अदि के कारण नदी का जल अब पहले की तरह निर्मल नहीं रह गया है। अतः अब समय आ गया है, परंपराओं में संशोधन हो, कर्मकांड में काट-छाँट हो, जिससे नदी खुलकर साँस ले सके। नदी का पानी स्वच्छता की ओर चरण बढ़ाए और इस तरह पर्यावरण प्रदूषण कुछ कम हो। सुलोचना ने लक्ष्य किया है-

"किया है नालिश अपनी आत्मकथा में

नदी ने धर्म के ठेकेदारों का

कि उनके व्यर्थ के कर्मकांड का बोझ

सहना पड़ता है उसे और लिए धरती का कचड़ा

वह कूद रही है समंदर में"

संपर्क : डॉ. मनीषा झा, हिंदी विभाग, उत्तर बंग विश्वविद्यालय, राजा राम मोहनपुर, सिलीगुड़ी,

जिला - दार्जिलिंग (पश्चिम बंगाल) मोबाइल नंबर-9434462850

एक तो नदी-केंद्रित धार्मिक-सांस्कृतिक प्रथाएँ, रूढ़ियाँ, कर्मकांड और दूसरी ओर मनुष्य के भौतिक-वैज्ञानिक संसाधनों का कचड़ा और अवशेष का नदी में विलय, इन सब के कारण नदियों की स्थिति बदतर होती जा रही है।

हुगली नदी के तट पर अधिक मानव जनसंख्या वाले कोलकाता महानगर और हावड़ा, 24 परगना जैसे-व्यस्त शहरों की अवस्थिति के कारण इस नदी पर बोझ बढ़ता जा रहा है। नदी के जल पर इस तट से उस तट तक जाने के लिए मोटरबोट, स्टीमर आदि से निकलने वाला धुआँ और गंदा पानी, मानव समुदाय के तमाम अवशेष और कचड़े, इस नदी में मिलते हैं गिरते हैं, जिस कारण इस नदी का पानी घोर प्रदूषण का शिकार हो चली है। इस कारण इसके जलीय जीव-जंतुओं पर भी मारक प्रभाव लक्षित किया जाता है। इस प्रदूषण को देखते हुए 'हुगली नदी-2' कविता में सचेत किया गया है - "देखो / नदी का पानी साफ था पहले / पानी की तरह / और देखो रक्त वर्णा / हो रही है नदी धीरे-धीरे / फिर मत कहना / कि खून बह रहा है।" (शब्दों की दुनिया, मनीषा झा, पृष्ठ संख्या-19)

नदी के पानी को शुद्ध रखना और शुद्ध करना किसका दायित्व है? इस पर विचार और अमल आवश्यक है क्योंकि इतना तो निश्चित है कि किसी जादू या करामात से नदी का जल शुद्ध नहीं हो सकता। मनुष्य को शुद्ध करने के लिए मंत्र है, कर्मकांड है। नदी का पानी किसी मंत्र से शुद्ध नहीं होता। प्रदूषित नदी की पुकार को सुलोचना इन शब्दों में दर्ज करती हैं -

"लौट रही थी मैं कि मेरे पाँव पखारती नदी ने कहा

-

बचा लो मुझे जो करती हो प्यार मुझे रहना है जिंदा"

नदी आज पुकार रही है। अपना सामर्थ्य दान करते हुए वह मनुष्य से गुहार लगा रही है कि उसके कलेवर को और विकृत न किया जाए, कि उसे शुद्ध हवा के साथ बहने दिया जाए, कि उसके पानी के साथ और छेड़छाड़ न किया जाए, कि उसे जीवित रहने दिया जाए और अपनी राह में चलने दिया जाए। मनुष्य समाज और समस्त पृथ्वी को पोषण देने वाली नदी के प्रति सचेतनता आवश्यक है। यह सभी के हित में है। हुगली नदी जैसी महत्वपूर्ण नदी की पुकार पर ध्यान देते हुए उचित देख-भाल की जाए, यह आज के समय की माँग है।

सूर्यभानु गुप्त: कवि एक बंग अनेक

डॉ० पंकज साहा

अस्सी के दशक में धर्मयुग, साप्ताहिक हिंदुस्तान, सारिका, कादंबिनी, नवनीत, आजकल, ब्लिट्ज जैसी पत्रिकाओं एवं पत्रों की हिंदी साहित्य प्रेमियों में बहुत माँग थी। हिंदी गजल में दुष्यंत कुमार की तूती बोलने लगी थी। उन्हीं दिनों सूर्यभानु गुप्त भी अपनी गजलों एवं कविताओं से पाठकों का ध्यान आकृष्ट कर रहे थे।

इन दिनों हिंदी में गजलों पर बहुत बात हो रही है, परंतु ताज्जुब है कि सूर्यभानु गुप्त से मुलाकात नहीं हो रही है, जबकि वे गत पचास वर्षों से मुंबई में रहकर अनवरत साहित्य-साधना कर रहे हैं। उन्होंने काव्य की विभिन्न विधाओं में छह सौ से अधिक रचनाएँ की हैं। उनकी प्रतिनिधि रचनाओं का संग्रह 'एक हाथ की ताली' वाणी प्रकाशन, दिल्ली से 1997 में प्रकाशित हुआ है। बच्चों के लिए उपयोगी लगभग दो सौ कविताएँ भी इन्होंने लिखी हैं। गिरीश कर्नाड के निर्देशन में 'गोधूली' एवं गोविंद निहलानी के निर्देशन में 'आक्रोश' तथा 'संशोधन' नामक फिल्मों के अतिरिक्त कुछ सामाजिक-राजनीतिक नाटकों एवं कुछ दूरदर्शन-धारावाहिकों के लिए भी इन्होंने गीत लिखे हैं।

सूर्यभानु काव्य की किसी विशेष विधा में बँधकर नहीं रहे। गीत, गजल, कविता, हास्य कविता, बालोपयोगी कविता, त्रिपदी, चतुष्पदी, हाइकु आदि पर उनकी लेखनी समान रूप से चली और सबमें उन्हें सफलता मिली है।

सूर्यभानु के गीत को नवगीत कहना बेहतर होगा। उनके गीतों में गीत की मिठास और नवगीत का नया कथन, नयी प्रस्तुति, नयी सोच, नये प्रतीक, नये बिंब, जीवनानुभव, समकालीन समस्याएँ, परिस्थितियाँ आदि दृष्टिगत होती हैं। 'रात मत बुनो' की निम्नलिखित पंक्तियों को उदाहरण स्वरूप देखा जा सकता है –

'घर का घाट नहीं, मरने को खाट नहीं

सड़क को चुनो! सुनो, रात मत बुनो.....'

उनकी गजलों पर टिप्पणी करते हुए देवमणि पांडेय ने लिखा है, 'सूर्यभानु गुप्त एक प्रयोगधर्मी गजलकार हैं, मगर उनका हर प्रयोग काव्य की गरिमा से समृद्ध होता है। वे हमेशा कंटेंट, जबान और लहजे की खूबसूरती की मिसाल पेश करते हैं।' एक उदाहरण द्रष्टव्य है –

'दरिया से जुदा होकर बाजार में आ पहुँचा,

बादल जो न बन पाया बोतल में बिका पानी।'

कल की दुनिया और आज की दुनिया में बहुत बड़ा फर्क आ गया है, पुरानी परंपराएँ एवं उसूल भी नहीं रह गये हैं। सूर्यभानु की नजरें समाज एवं देश के बदलते हालातों पर बराबर रही हैं। अत्यंत शालीनतापूर्वक बदले हालातों पर कटाक्ष कर वे कहते हैं–

'झूठे इलजन मान लेते थे, हाथ कैसे रसूल थे पहले।

लोग गिरते नहीं थे नजरों से, इश्क के कुछ उसूल थे पहले।

जिनके नामों पर आज रस्ते हैं, वे ही रास्तों की धूल थे पहले।'

सिर्फ नैतिकता, संस्कार एवं उसूल ही नहीं, हमारे रोग भी बदल गये हैं। सूर्यभानु ने अपने दौर के एवं भविष्य के आसन्न रोग को अपनी दूरदृष्टि से देख लिया है और एक तरह से देश के लोगों को आनेवाले खतरों की चेतावनी दी है –

'हँजा, टी.बी., चेचक से मरती थी पहले दुनिया

मंदिर, मस्जिद, नेता, कुरसी ये हैं रोग अभी के।'

आलेख

कोरोना इस सदी की सबसे बड़ी महामारी है। उससे रक्षा के लिए मास्क बने, वैक्सीन बनीं, परंतु मंदिर, मस्जिद, नेता, कुरसी जैसे सामाजिक-राजनीतिक रोग से ग्रस्त देश को उबारने के लिए अभी तक कोई दवा नहीं बनी है और ये रोग अब अत्यंत खतरनाक स्तर पर पहुँच गये हैं।

चुनाव आते ही नेतागण वायदों की झड़ी लगा देते हैं। आज तो अनेक दल चुनावी फायदा लेने के लिए विकास की बात या काम कम, मुफ्त की रेबड़ियाँ बाँटने का काम या वायदा अधिक करने लगे हैं। देश की जनता भी मुफ्त पानी, मुफ्त बिजली, मुफ्त राशन आदि पाकर निहाल हो उठती है। पहले आज की तरह फ्री पॉलिटिक्स नहीं थी, फिर भी नेता जी के मादक वायदों से जनता खुशी से झूम उठती थी। इसका जिक्र करते हुए सूर्यभानु लिखते हैं –

‘हाय नेता जी के मादक वायदे,
कान पब्लिक के नशले हो गये’

मादक पदार्थ का सेवन करने पर आँखें नशीली हो जाती हैं, परंतु मादक वायदे सुनकर कानों का नशीला होना बिल्कुल नया प्रयोग है। जिंदगी को जंगल के आवारा घोड़े से उपमित भी उनका बिल्कुल अछूता प्रयोग है –

‘एक जंगल का आवारा घोड़ा सही,
खूबसूरत है फिर भी मगर जिंदगी।’

मनुष्य के जीवन में उतार-चढ़ाव आते ही रहते हैं। हमेशा सफलता हाथ नहीं लगती। बाधाएँ राह रोक लेती हैं। मनुष्य निराशाओं के भँवरजाल में फँस जाता है। ऐसे लोगों को सूर्यभानु निराश न होने का संदेश देते हुए आशा की राह दिखाते हैं –

‘ऐ दोस्त जिंदगी से इतना निराश न हो,
सूखी है नदी तो समझ रास्ता हुआ।’

आज हिंदी गजल की मुख्यधारा दुष्यंत कुमार के रास्ते चल पड़ी है, जिनमें व्यवस्थाजन्य पीड़ाएँ हैं, छटपटाहट है, भूख है, गरीबी है, जनतंत्र का छद्म है, आरोप है, प्रत्यारोप हैं, आत्मकेंद्रिकता है, पर खुद से मिलने की कोशिश और ‘जो दिल देखा अपना’ वाली कसीस दिखलाई नहीं पड़ती है। सूर्यभानु में यह है –

‘हम मिल के अपने-आप से मायूस हो गये,
गो नाम तो बहुत था हमारा सुना हुआ।’

प्रयोगवादी काव्य जैसे शब्दों, पदों, मुहावरों के नये प्रयोगों के लिए जाना जाता है, वैसे ही छायावादी काव्य लाक्षणिकता, प्रतीकात्मकता, ध्वन्यात्मकता, बिंब-विधान, अलंकार-विधान आदि के लिए सराहा जाता है। सूर्यभानु के काव्य में प्रयोगवादी प्रयोग की नवीनता के साथ-साथ छायावादी बिंब की कोमलता भी परिलक्षित होती है।

कल्पना और रूपक का अद्भुत प्रयोग करने में वे अत्यंत माहिर हैं। ‘धर्मयुग’ (16-22 जनवरी, 1977) में प्रकाशित उनकी ये काव्य-पंक्तियाँ किसी भी काव्य-रसिक का मन बाँधने में सक्षम है –

‘शाख ऐसे गुलाब देती है जैसे
पलकें झुका के लड़के को
कोई लड़की जवाब देती है।’

गजल फॉर्म में न होने के बावजूद उपर्युक्त पंक्तियों में गजल की मूल भावना वाली मिठास है। ऐसी ही मिठास उनकी निम्नलिखित काव्य-पंक्तियों में भी परिलक्षित है –

‘चाहे कोई दुआ-सलाम
न लिख! खत तेरा
और मैं न पहचानूँ?
खत के नीचे भले
तू नाम न लिख।’ (वही)

दोहा हिंदी काव्य का सबसे पुराना एवं सबसे प्रसिद्ध छंद है। आदिकालीन कवि सरहपा एवं भक्तिकालीन कवि कबीरदास जैसों के व्यंग्यात्मक दोहों को अपवाद स्वरूप छोड़ दिया जाय तो रीतिकाल तक दोहों में भक्ति, नीति एवं श्रृंगार की प्रधानता रही। आधुनिक काल में दोहा-लेखन लुप्त तो नहीं हुआ, पर सुप्त अवश्य पड़ गया। हिंदी में गजल जब नये तेवर के साथ आयी, तो हिंदी के दोहाकारों ने दोहे को भी नया परिधान पहना दिया। डॉ. रामविलास शर्मा ने ‘राग-विराग’ की भूमिका में लिखा है, ‘जिन दिनों उर्दू के कुछ कवि-जैसे मजरूह सुल्तानपुरी-गजलों में प्रगतिशील राजनीति की शराब भर रहे थे, यही काम उन्हीं दिनों अपनी गजलों में निराला भी कर रहे थे –

‘खुला भेद विजयी कहाए हुए जो,
लहू दूसरों का पिये जा रहे हैं।’

निराला ने हिंदी गजल को नया तेवर दिया तो नागार्जुन ने दोहा को नया लुक दिया –

‘जली दूँट पर बैठकर, गयी कोकिला कूक।
बाल न बाँका कर सकी, शासन की बंदूक।’ और
‘आज गहन है भूख का, धुँधला है आकाश।
कल अपनी सरकार का, होगा पर्दाफाश।’

सूर्यभानु के दोहे भी ऐसी ही सामाजिक-राजनीतिक चेतना से लैस हैं। उन्होंने अपने समय के यथार्थ को सरल शब्दों में गहरे भाव के साथ प्रस्तुत किया है –

1. ‘धर्म, ध्वजा, जब-जब लगी, राजनीति के हाथ।
विधवा हुई सुहागिनें, बच्चे हुए अनाथ।’
2. ‘श्रद्धा से चंदन जले, दुख से जले शरीर।
मजहब से बस्ती जले, नफरत से कश्मीर।’

आलेख

3. 'गीता और कुरआन पर, है अब ऐसी धूल।

भोले-भोले आदमी, रास्ता जाएँ भूल।' इत्यादि।

हाइकु जापान की सर्वाधिक लोकप्रिय काव्य-विधा है। क्लासिक रूप में यह 5-7-5 वर्णक्रम में लिखा जाता है। नव हाइकु 5-5-7 या 7-5-5 वर्णक्रम में लिखा जा रहा है। अनेक भारतीय भाषाओं में भी आज हाइकु लिखे जा रहे हैं। हिंदी-काव्य में हाइकु ने लोकप्रियता हासिल कर ली है। अज्ञेय को हिंदी का पहला हाइकुकार माना जाता है। भगवतशरण अग्रवाल, सत्यभूषण वर्मा, आदित्य प्रताप सिंह, मोतीलाल जोतवाणी, वेदज्ञ आर्य, कमलकिशोर गोयनका, उर्मिला कौल, बलदेव वंशी, सूर्यभानु गुप्त आदि हिंदी के चर्चित हाइकुकार हैं। आज तो हिंदी में हाइकुकारों की भरमार हो गयी है। जापानी में हाइकु को ऋतु-बोधक प्रकृति-काव्य माना गया है, परंतु युग-परिवर्तन के कारण आज यह अन्य भावों का भी वाहक बन गया है। हिंदी में प्रकृति-वर्णन के अतिरिक्त इसमें प्रणय, सुख-दुख, मानवाकांक्षा, अस्मिता की तलाश, एकाकीपन, अजनबीपन, स्वार्थपरता, संबंधहीनता, जीवन की क्षणभंगुरता, भाग्यवाद, बेवफाई, धार्मिक आडंबर, सामाजिक-राजनीतिक विसंगतियाँ, राजनेताओं के छल-छद्म, संसद/विधानसभाओं के कार्यकलाप, चुनाव, मुखौटेबाजी, परंपरा एवं आधुनिकता का द्वंद्व आदि का भी सजीव चित्रण हुआ है। सूर्यभानु ने अपने हाइकु-लेखन में हाइकु की मूल-भावना के निकट रहने की चेष्टा की है। अपने हाइकुओं में उन्होंने कुछ संकेतों अथवा बिंबों के माध्यम से प्राकृतिक सौंदर्य अथवा विशेष मनोभावों को उकेरा है। प्राकृतिक सौंदर्य-चेतना से अनुप्राणित उनका एक हाइकु है—

'अहा! झरना! पर्वतों से वनों का बात करना।'।

इसी प्रकार निम्नलिखित हाइकु में वे कुछ रेखाओं द्वारा चित्र खींच देते हैं। चित्र को पूरा करने और उसमें अपनी पसंद के रंग भरने का कार्य वे पाठकों पर छोड़ देते हैं—

'हँसी लड़की सहसा दीवार में एक खिड़की।'।

सूर्यभानु ने त्रिपदियाँ एवं चतुष्पदियाँ भी लिखी हैं। उनकी त्रिपदियाँ 'सतसइया के दोहरे' की तरह गंभीर घाव करनेवाली होती हैं। एक उदाहरण द्रष्टव्य है—

'अपने ही देश में हम पराए हैं'।

ऐसा लगता है देशी शक्तों में

फिर से अंग्रेज लौट आये हैं।'।

उनकी चतुष्पदियों में त्रिपदियों जैसी धार नहीं है, परंतु बिंबों का प्रयोग बेजोड़ है। जैसे —

'उतर गया धाम कर मेरे नाम

डूबा दिन, कटे हुए पाँवों की शाम।'।

हिंदी साहित्य में व्यंग्य को अब स्थान मिलने लगा है, परंतु हास्य को अभी-भी अछूत माना जाता है। इसीलिए गंभीर किस्म के लेखक हास्य से दूरी बनाकर चलते हैं। परंतु सूर्यभानु ने लोकतांत्रिक भाव का परिचय देते हुए काव्य की लगभग सभी विधाओं को गले लगाया है। 'साप्ताहिक हिंदुस्तान' (28 सितंबर, 1975) में प्रकाशित उनकी हास्य कविता हँसाती कम, गुदगुदाती अधिक है—

'मैंने उससे कहा— हाथ, तुम्हारे कपोल पर

ये जो गोल-गोल काला-काला तिल है,

यह मेरा दिल है। उसने इठलाते हुए

मेरे हाथ में एक कैशमेमो थमाते हुए फर्माया—

और डार्लिंग ये इस तिल का बिल है।'।

बाल कविताओं में भी उनका हास्य-भाव देखा जा सकता है—

'लाला जी की बड़ी तोंद है। घंटाघर की घड़ी तोंद है।

लाला जी से मिलो बाद में, उनसे पहले खड़ी तोंद है।'।

उपर्युक्त पंक्तियाँ गजल फॉर्म में हैं। कवि के रूप में सूर्यभानु गजलकार पहले हैं, बाद में कुछ और। कवि नौरज, जावेद अख्तर आदि इनकी गजलों के भाव, कहन एवं भाषा-संयोजन से बहुत प्रभावित थे। पाठक भी उनके इसी गुण पर फिदा रहे, परंतु डॉ० धर्मवीर भारती उनकी समस्त अच्छी कविताओं पर फिदा थे। 'एक हाथ की ताली' की भूमिका में उन्होंने लिखा है, 'सूर्यभानु की अच्छी कविताओं की यही विशेषता है कि वे किसी विशेषता का ठप्पा लगाकर शोरूम में नहीं सजतीं। न यह वाद, न वह वाद, न यह गुरू, न वह आचार्य, न साठ, न सत्तर, न अस्सी! कविता! केवल कविता जैसी वह होनी चाहिए, सीधी-सादी, एक तेवर से अपनी बात कहती हुई पाठक के मन में उतर जानेवाली। कभी उक्ति वैचित्र्य से जगमगा उठनेवाली। कभी गुदगुदाने वाली, कभी अनाम यादों को जगाकर उदास कर जानेवाली, कभी पहली बरसात में मिट्टी से उठनेवाली सौंधी गंध का सुख दे जाने वाली।'।

सम्पर्क : डॉ० पंकज साहा, एसोसिएट प्रोफेसर, हिंदी-विभाग,

खड़गपुर कॉलेज, खड़गपुर-721305 (पं.बं.), 9434894190

शमशेर जहादुव सिंह की कविता 'टूटी हुई बिखरी हुई' का पाठ

रंजना अरगडे

कोई कविता जैसे आपकी कोई हम उम्र बड़ी बहन बन जाए। कविताओं, कहानियों से पाठकों का बहनापा हो जाता है, रहते-रहते अक्सर या भाईचारा जो जैसा हो। मैं 66 वर्ष की हूँ और यह कविता 69 वर्ष की है। 'यह' यानी 'टूटी हुई बिखरी हुई'। मैं इससे पहली बार तब मिली थी जब मैं जवान थी। नादान थी। बहुत जल्दी किसी के प्रभाव में आ जाती थी और प्रेम में भी पड़ जाती थी, जब-तब। किसी के कहने पर हाँ में हाँ मिलाती हुई तारीफ या निंदा करने लगती थी। पर अब पानी थिर हुआ मन चंचल नहीं रहा और दीन-दुनिया की समझदारी कुछ तो बढ़ी भी। ऐसे में जब एक लंबे अर्से बाद जैसे चिट्ठी या तस्वीरों में लोगों से मिलते हैं, वैसे ही मैं जब इस कविता से मिलती हूँ, इसे पढ़ती हूँ तो नए और विपरीत संदर्भों के जुड़ने पर भी मुझे इसका आकर्षण कम नहीं होता लगता। विशेष रूप से डॉ सविता सिंह के नारीवादी संदर्भ को समझते-पढ़ते हुए और अपने को सतर्क, शिक्षित और सावधान करते हुए कि 'यह भी एक नज़रिया है, जो अहम है और समीक्षा-कर्म में इसे नज़रअंदाज़ नहीं किया जा सकता है।' डॉ. सदाशिव श्रोत्रिय जी ने भी इसका एक विश्लेषणात्मक पाठ किया है। लेकिन संभवतः डॉ विजयदेव नारायण साही जी ने इसका सबसे पहले विश्लेषणात्मक पाठ किया था। बहुत पहले रामविलासजी का मंतव्य भी पढ़ा था। पर तब मैं आलोचना की ज़मीन पर घुटसू चल रही थी और रामविलासजी के मंतव्य से अगर सहमत नहीं भी थी, फिर भी खुले आम चुनौती देने की मेरी कोई हैसियत तब नहीं थी और न अब उसकी आवश्यकता है, क्योंकि कविताओं को देखने की मेरी ज़मीन अलग है। मैं तो यही मानती थी और अब भी मानती हूँ कि प्रेम की कविता है और अगर इसमें रूमनियत है, तो है; पर चूँकि यह शमशेरजी की कविता है अतः इसमें रूमनियत के साथ-साथ कहीं बहुत गहरे उनका मार्क्सवादी नज़रिया भी होगा ही। शोषण चाहे प्रेमी-जन (इसमें प्रेमी-प्रेमिका दोनों का समावेश कर लें) भी क्यों न करे, पर वह भी स्वीकार्य नहीं और इसीलिए तो वे कहते हैं- 'तुम मुझसे प्रेम करो जैसे मैं तुमसे करता हूँ।' हालाँकि चाहे मैं खुद घोषित नारीवादी नहीं हूँ तब भी नारी की (घोर) पक्षधर तो हूँ ही। अब जब मैं अपनी खुद की 'रिसर्चर' समझ से आगे बढ़ कर आज जब 'सहृदय' समझ पर पहुँची हूँ तो फिर एक बार इस कविता को देखने का मन हो आया है।

इसमें कोई संदेह नहीं कि नामवरजी का आभार हमें मानना चाहिए कि जब शमशेरजी ने उन्हें डायरी के खंड के रूप में यह सुनाई तो नामवरजी ने कहा कि यह तो मुकम्मल कविता है। तो 'टूटी हुई बिखरी हुई कविता'- देश के कोलम्बस नामवरजी हुए!

बहुत-से तीर बहुत-सी नावें, बहुत-से पर इधर उड़ते हुए आये, घूमते हुए गुजर गये मुझको लिये, सबके सब। तुमने समझा कि उनमें तुम थे। नहीं, नहीं, नहीं।

उसमें कोई न था।

न मार्क्सवादी, न नारीवादी, न रीतिवादी और न ही छायावादी, पाठवादी आदि आदि ..कोई न था। लेकिन उसमें

सिर्फ बीती हुई

अनुशीलन

अनहोनी और होनी की उदास
रंगीनियाँ थीं। फ़क़त।

यह असल में पाठक के अपने जीवन और अनुभव की उदास रंगीनियाँ हैं, केवल। फ़क़त। और इसीलिए लुभार्ती हैं।

यह किस्सा तो अब शमशेरजी और नामवरजी के बीच बंद हो गया है कि नामवरजी ने कहा और शमशेरजी ने मान लिया। निश्चित हुआ सा ही था कि अब यह एक ऐसी कविता है, जिसकी गणना हम सर्वाधिक महत्वपूर्ण नई कविताओं में करते हैं। शमशेरजी दुनियादारी के मामले में चाहे सरल होंगे, पर कविता और कला के मामले में नहीं। आप देखिए जिस कविता को रामविलासजी जैसे मार्क्सवादी आलोचक रीतिकाल के प्रभाव से युक्त मानते हैं उसके संबंध में नामवरजी का यह स्पष्ट कथन है- ..बोलचाल की गद्य का लय। रूक-रूककर आगे बढ़ता हुआ गद्य। विलंबित। विपर्यस्त। फिर भी कविता। टूटी हुई बिखरी हुई नहीं, जैसा कि कुछ लोग समझ बैठे हैं। अत्यधिक सगुंठित। हर तरह के झोल को हटाकर, फालतू शब्दों को हटाकर जतन से रचा हुआ। साबित करते हुए कि कविता को गद्य की तरह सुलिखित होना चाहिए। एकदम ठोस। लेकिन ठस नहीं। कहीं -कहीं शोखी भी। शमशेरीयत लिए हुए। (सन् - 1990) लगभग एक ही तरह की बात ये दोनों ही शमशेरजी की कविताओं के बारे में, कविताओं में निहित गद्य के बारे में कहते पर फिर भी इस कविता का उनका आकलन एक जैसा नहीं है। पर यह एक दूसरा मुद्दा है। पर इतना तो तय है कि शमशेरजी को कला के संदर्भ में कोई बहका कर ले जाए, यह संभव नहीं। पूरी ज़िंदगी कला की ही तो साधना की है उन्होंने। दुनियादारी थोड़े ही की है! न ही राजनीति..। पर शमशेरजी कला की कलात्मकता ही नहीं, उसकी राजनीति को भी बहुत अच्छी तरह समझते थे। वे इस बात को जानते रहे होंगे कि यह कविता, यानी 'टूटी हुई बिखरी हुई' अपनी संरचना में कितनी पफ़ेक्ट है, एक मिनिचेर पेंटिंग की तरह।

जब आप कोई मिनिचेर पेंटिंग देखते हैं तब उसमें चित्रित पेड़ की पत्तियाँ या चूनरी को बूटों की संख्या और आकार गिनते नहीं हैं पर देख कर ही आपको उसके संतुलन और पफ़ेक्टेनेस का अंदाज़ा आ जाता है। इस

कविता का केंद्रीय वाक्य है - तुम मुझसे प्रेम करो जैसे मैं तुमसे करता हूँ। और यह पंक्ति कविता के लगभग बीचोबीच आती है। यह है संरचना का संतुलन जिसे नामवरजी ने इस कविता को शमशेरजी से सुनते हुए पहचाना होगा। हाँ तुम मुझसे प्रेम करते जैसे मछलियाँ लहरों से करती हैं... से ले कर आइने में तुम्हारी ज़िंदगी हूँ - इन आठ पंक्तियों में कवि का मंतव्य और कविता में अभिव्यक्त प्रेम भाव अपनी पूरी सघनता के साथ प्रकट हुआ है।

साहित्य और विचारधाराओं के संबंध को ले कर बहुत कुछ कहा और समझाया जा चुका है। उसी तरह साहित्य को देखने के नज़रिए को ले कर भी कम चर्चा नहीं हुई है। इन दोनों का अपना महत्व है। अगर विचारधारा आपको कविता के हृद तक ले जाने में सहायभूत होती है, तब तो उस चश्मे को पहन लेना चाहिए-अविलंब। पर कई बार ऐसा भी होता है कि आप कविताओं को या कहानी के माध्यम से विचारधारा को समझना और उसका महत्व स्थापित करना चाहते हैं। यह भी एक तरीका हो सकता है साहित्य के देश में विचरण करने का। पर इससे विचारधारा की पहचान बनी रहती है, रचना गुम हो जाती है। लेकिन हम तो साहित्य के लोकतंत्र में हैं। जैसे चुनाव करेंगे वैसे ही तो परिणाम मिलेंगे। बहरहाल।

टूटी हुई बिखरी हुई कविता के ठीक बीचोबीच जड़ी हुई यह पंक्ति- 'तुम मुझसे प्रेम करो जैसे मैं तुमसे करता हूँ-' का अर्थ सौन्दर्य मेरे सामने न खुलता अगर मैं मार्क्सवाद में समानता और शोषण के मुद्दे को न समझती। प्रेम के ही तो नाम पर संसार की सारी स्त्रियों का अक्सर शोषण होता है। भारतीय संसार की-ऐसा इसलिए कह रही हूँ कि मुझे विश्वास है भारत के बाहर स्त्रियाँ इतनी मूर्ख नहीं होंगी अब। (डेस्डीमोना का युग वहाँ जल्दी समाप्त हो गया होगा।) इसीलिए कई बार यह कविता मुझे बियॉड जेंडर ले जाती है। यानी जेंडर की समझ से परे। अब जब इस कविता को मैं पढ़ती हूँ, इसके नारीवादी विवेचन को पढ़ने और पूरे आदर के साथ पढ़ने के बावजूद मुझे यह कविता पहले से अधिक अर्थपूर्ण लगने लगी। जब हम किसी कविता का पाठ पढ़ते हैं तो ज़रूरी नहीं कि कवि के जीवन से हम उसे जोड़ कर

अनुशीलन

देखें। बिना इसके भी कविता अर्थ देती है। उसे देना चाहिए। बस। मेरा यही वाक्य सारी समस्या की जड़ है। यह कथन भी कविता के संदर्भ में प्रसिद्ध है- दी पोएट्री शूड नॉट मीन बट बी। 1926 में प्रकाशित अपनी किताब 'आर्स पोएटिका' में आर्किबाल्ड मैकलीष (1892- 1982) का यह कथन था। आर्किबाल्ड का यह मानना था कि कविता का मूल्य इसीमें है कि उसकी संरचना कैसी है, उसका शब्द- गूँफन कैसा है, उसके रूपक, लय, संदर्भ, प्रास आदि कैसे हैं और न कि यह कि उसका कथ्य जिसका भावार्थ बताया जा सकता है। असल में महत्वपूर्ण यही है कि कविता को पढ़ते हुए हमारा अनुभव क्या कहता है। क्या हमारा अनुभव उसके निकट पहुँचने में हमारी मदद करता है और क्या इसे पढ़ कर हमारे अनुभव में कोई वृद्धि होती है?

यहाँ चर्चा के बीच में एक बात समझी जा सकती है कि कविता के गद्य और सामान्य गद्य में क्या अंतर है। कविता का गद्य अपनी प्रकृति में भी काव्यात्मक ही रहता है यानी कि वह अपने बिंबात्मक और लयात्मक सौन्दर्य के कारण आकर्षक होता है, अपने द्वारा निहित या प्रस्तुत होते अर्थ के कारण नहीं। इसीलिए शमशेर की कविता का गद्य ठोस है, पर फिर भी लयात्मकता से भरपूर है। दो नितांत विभिन्न अनुभूतियों को जैसे कि इलीयट कहता है, उसे पास में ला कर जोड़ देता है- 'टू योक टूगेदर' की तरह। जैसे देखिए न आप - दोपहर बाद की धूप-छाँह में खड़ी इंतज़ार की ठेलेगाड़ियाँ

जैसे मेरी पसलियाँ-

खाली बोरे सूजों से रफू किये जा रहे हैं-जो

मेरी आँखों का सूनापन हैं

'जैसे मेरी पसलियाँ' इस वाक्य खंड ने 'दोपहर बाद की धूप-छाँह में खड़ी इंतज़ार की ठेलेगाड़ियों' को काव्यात्मक बना दिया। कहाँ पसलियाँ और कहाँ ठेलेगाड़ियाँ। यह धूप-छाँह में खड़ी ठेले गाड़ियाँ हैं। इनकी परछाईं ज़मीन पर पड़ रही है। इनके पहियों की भी। दोपहर बाद का समय है। अतः परछाईं का अपना एक एंगिल होगा। जैसे रीढ़ की हड्डियाँ... ये इंतज़ार की ठेले गाड़ियाँ हैं। मज़दूर, कि जो सुबह से खड़ा होगा काम की तलाश में, दोपहर बाद तक भी कोई काम नहीं मिला होगा। इंतज़ार जब हड्डियों तक पहुँच जाता है तो कितना दर्द भरा होता है, यहाँ

इसका संकेत है। जो दिहाड़ी पर जीता है उसे सुबह से काम नहीं मिला है-इस बात को याद रखें। वैसे ही खाली बोरे आँखों का सूनापन है। ये दोनों चित्र बड़े मार्मिक हैं और इनमें जो दीर्घ स्वरों का प्रयोग है वह इंतज़ार के भाव को अधिक विस्तार देता है। बाद... छाँह... इंतज़ार...। यह इतना बारीक इसलिए बताया जा रहा है कि यही और ऐसी ही लयात्मकता कविता को सुंदर बनाती है जब वह उसके मूल भाव का विस्तार करती है। इस कविता में मूल भाव तो प्रेम का ही है। जैसे शमशेर कहते थे कि यह असल में मुक्त छंद में लिखी गज़ल है- और अगर ऐसा है तो प्रेम इसका काफ़िया भी होगा!

असल में इस कविता के साथ सबसे बड़ी तकलीफ यही है कि हमें लगता है कि 'कबूतरों ने एक गज़ल गुनगुनाई' से ही इसकी शुरुआत क्यों नहीं मानी जानी चाहिए? यही से तो कविता आपको अपने जादू में लपेटती है। बरबस खींचती है। जकड़ती है। कि फिर अंत तक नहीं छोड़ती और आप इस कविता के प्रेम में पड़कर ऐसा ज़रूरी नहीं समझते कि इसे समझें भी। इसमें जो चित्र हैं वे एक मोहक रंगीन जाल की तरह आपको फँसाते हैं। और आपको फँसना अच्छा लगता है- इस कविता की ही एक पंक्ति की तरह-तुमने मुझे जिस रंग में लपेटा, मैं लिपटता चला गया। लेकिन यह समझना बहुत ज़रूरी है कि इस कविता को इसकी आरंभिक पन्द्रह पंक्तियाँ और अंतिम सात पंक्तियाँ ही 'कविता' बनाती हैं। अन्यथा यह एक रोमानी प्रलाप भर होता। कविता नहीं होती। कैसे? तो देखिए -

यह किसी पूंजीवादी या ज़मींदारी या व्यापारिक मानसिकता वाले व्यक्ति का प्रेम नहीं है। यह एक ऐसे श्रमिक मानसिकता वाले का प्रेम है जिसमें ईमानदारी और स्वाभिमान कूट - कूट कर भरा है। इस बात को दूसरी तरह से समझते हैं। व्यक्ति जब प्रेम में पड़ता है तो वह अपने सर्वोत्तम के साथ अपने प्रेमीजन से मिलता है। स्त्री-पुरुष कोई भी हो। वह अपनी सुंदर से सुंदर सूरत और सीरत के साथ अपने प्रियजन के प्रति उन्मुख होता है। होना चाहता है हमेशा। पर इसके ठीक विपरीत हमारा यह नायक देखिए -

बाल, झड़े हुए, मैल से रूखे, गिरे हुए,

गर्दन से फिर भी चिपके ... कुछ ऐसी मेरी खाल,

अनुशीलन

मुझसे अलग-सी, मिट्टी में मिली-सी
वह अपना वही चेहरा अपने प्रियजन को दिखा रहा
है, जो वास्तविक है। बिना किसी आडंबर और लाग-
लपेट के। फिर कविता या कला का भी अपना एक
ग्लैमर होता था, अब भी होता है, जिसमें प्रेमीजन फँसते
थे और फँसाते थे, अब भी यही करते हैं। कवि के प्रेम
में पड़ना कितना बड़ा ग्लैमर होता था किसी ज़माने में।
तो हमारे नायक की साफ़गोई देखिए -

टूटी हुई बिखरी हुई चाय
की दली हुई पाँव के नीचे
पत्तियाँ
मेरी कविता

यानि यह मैं हूँ और यह मेरी कविता है।

कोई मिथ्या कथन नहीं। ईमानदारी से हक़ीकत का
बयान। अब ऐसा कवि -व्यक्ति प्रेमी होगा तो कौन
उसको हाथों- हाथ लेगा। लेकिन कवि ने एक हल्का-सा
इशारा किया है। यह जो मैली कुचैली स्थिति है वह
अलग है, और मेरा जो कवि है वह अलग है। यह जो
अलग है वही तो असली नायक है। जो फिर बाद में
सुंदर से सुंदर दृश्यों में आपको सराबोर करता है, वे दृश्य
जो प्रेम में उसकी नाकामी और उसके अवसाद और दुख
से भरे हैं पर कितने सुंदर! पर प्रेम के इस अवसाद के
प्रति कवि का धीरज देखें- अगले जनम में....। यही वे
इंतज़ार की ठेलेगाड़ियाँ हैं जो इस जनम की धूप छाँही को
दूसरे जनम तक ले जाने में भी तैयार हैं।

तो इसलिए यह कविता अपने आरंभ के बिना अधूरी
है। कविता नहीं है। ऐसा यह व्यक्ति प्रेम करता है तो
अपनी शर्त पर। आप देखें यहाँ भक्तिकाल के समर्पण
और रोमांटिसिज़्म के पागलपन दोनों का नकार है।
जिसका उल्लेख कविता के अंत में है। समापन में-

बहुत-से तीर बहुत-सी नावें, बहुत-से पर इधर
उड़ते हुए आये, घूमते हुए गुजर गये
मुझको लिये, सबके सब। तुमने समझा
कि उनमें तुम थे। नहीं, नहीं, नहीं।
उसमें कोई न था। सिर्फ बीती हुई

अनहोनी और होनी की उदास रंगूनियाँ थीं। फ़कत।

मुझे लगता है 'फ़कत' शब्द इतनी प्रभावकता के
साथ इसके पहले कविता में व्यक्त नहीं हुआ होगा।

फ़कत में जो लाचारी है वह यहाँ सिर से नदारद है।
उसके स्थान पर एक ऐसी दृढ़ता है जो उलट-पुलट कर
फेंक देने वालों को चुनौती देती है। एक अजब-सी
कडुवाहट भी है। यह कडुवाहट जीवन को देख लेने के
बाद आई हुई कडुवाहट है। और जो दृढ़ता है वह अपनी
शर्तों पर जीने का मादा प्रस्तुत करती है। लेकिन यह
चुनौति वही दे सकती है जो अपनी स्थितियों के प्रति
ईमानदार है और काऊंटेनेंस एंड कंडीशन्स को लेकर
साफ़ हो और शर्मिंदा न हो। असल में कवि प्रेम करता
है। प्रेम भाव ही केंद्र में है। पात्र नहीं। कोई व्यक्ति नहीं।
अपनी एक अन्य कविता में तो कवि कह ही चुके हैं-द्रव्य
नहीं कुछ मेरे पास/फिर भी मैं करता हूँ प्यार (प्रतिनिधि
कविताएं) इस कविता में प्रेम भाव का अभिधात्मक रूप
व्यक्त हुआ है, - वाचकता है जो 'टूटी हुई बिखरी हुई'
कविता में लक्षणा और व्यंजना के साथ प्रकट हुई है।
'टूटी हुई बिखरी हुई' की आरंभिक पंद्रह पंक्तियों में ही
कविता का वास्तविक राज़ छिपा हुआ है। यह वह कूट है
जो खुलता ही नहीं है जब तक कि आप पूरी कविता पढ़
न लें। क्योंकि यह ज़रूरी नहीं कि आप उसे तत्क्षण
समझ ही लें। पूरी की पूरी।

इन पंद्रह पंक्तियों के बाद जैसे सौन्दर्य चित्रों की बाढ़
आ जाती है। ये मुख्यतः भाव चित्र हैं जो चारों तरफ की
वस्तुओं के सहारे काव्य सौंदर्य का निर्माण करते हैं।
कबूतरों ने एक ग़ज़ल गुनगुनाई के साथ ही कविता
आपको ऐसा जकड़ लेती है जैसे तेज गति की लहरें
आएं और आपको अपनी गिरफ्त में ले लें या आप पर
कोई आसेब छा जाए। इन पंक्तियों का प्रभाव ऐसा है कि
आपको वह अपने प्रभाव सौन्दर्य की गिरफ्त में ले लेती
हैं और तभी छोड़ती है अपने आखिरी मुक़ाम तक जब
बहुत से तीर और नावों का ज़िक्र कविता में आता है।

इंतज़ार की ठेलेगाड़ियों को पार करने के बाद जब
आप इस पंक्ति पर आते हैं-कबूतरों ने एक ग़ज़ल
गुनगुनाई... तब जा कर कविता के साथ आपका जुड़ाव
होता है; क्योंकि गुटरगूँ करते हुए कबूतरों को सभी ने
देखा-सुना है। जबकि इंतज़ार की ठेले गाड़ियाँ, मैले से
रूखे गर्दन से चिपके बाल... हमारे अनुभव विश्व में न
भी आए हों। यह कल्पना हमें आकृष्ट करती है कि
कबूतरों ने एक ग़ज़ल गुनगुनाई। कबूतर वैसे भी प्रेम

अनुशीलन

पत्र ले जाने के लिए इतिहास में प्रसिद्ध हो चुके हैं अतः अगर कवि यह कहे कि कबूतरों ने ग़ज़ल गनगुनाई तो हम तुरंत मान लेते हैं। उनके दर्द को ख़फ़ा, हल्का मीठा भी मान लेते हैं। हम उसमें कोई अर्थ या तार्किकता नहीं ढूँढ़ते और हमारे सामने ध्वनि का अब तक अनसुना सौन्दर्य उभर आता है। कवि इस कल्पना पर ही हम क्रूरबान हो जाते हैं; और फिर कवि का काम क्या है! हमारे चारों तरफ़ फैले दृश्य जगत को सौन्दर्य में बदल कर उसे एक नई काव्य-भाषा में प्रस्तुत करना। उसमें नई अर्थ छायाएँ उकेरना। और फिर होता यह है कि इस कविता को अपने भीतर उतार लेने के बाद गुटुरगुँ करते कबूतरों में छिपी हुए दर्द भरी ग़ज़ल सुनने की हम कोशिश करते हैं। कबूतरों को हम शायद ही किसी हिंसात्मक कार्यविधि में देखते हैं, अतः वे हमेशा 'हाय कितने प्यारे' की फ़्रेमवर्क में ही रहते हैं। और कवि की ये पंक्तियाँ भावक की चेतना में अमर हो जाती हैं। यही कविता की सफलता है।

फिर दूसरा चित्र आता है। और तीसरा और चौथा...। यह सारे चित्र भी हमारे अनुभव के हों, यह ज़रूरी नहीं है, पर इनमें एक अद्भुत का भाव है जो हमें आकृष्ट किए रहता है। इसीलिए कविता हमें पकड़े रहती है।

आसमान में गंगा की रेत आईने की तरह हिल रही है।

मैं उसी में कीचड़ की तरह सो रहा हूँ

और चमक रहा हूँ कहीं...

न जाने कहाँ।

अब यह चित्र जटिल है। पर कबूतर हमें आश्वासन दिए रहते हैं। फिर वे बाल मैल से रूखे.. हमें कीचड़ की तरह सो रहा हूँ का भाई बंद लगता है। गंगा की रेत में कीचड़ की तरह सोना हमारी समझ में आ जाता है। गंगा के लक्षणा या व्यंजना के अर्थ में न जा कर भी अभिधा में गंगा के किनारे सोना हमारी समझ में आता है। यानी हम 'गंगायाम् घोष' तक न भी जाएं, तब भी। चमक रहा हूँ इसलिए समान अर्थ है क्योंकि कवि ने पहले ही संकेत दिया है कि जो काउंटेन्स है, कवि उससे अलग है। अलग है जो, वही चमकता है जिसके कारण कवि प्रेम की बात करने का साहस कर सकते हैं। अब यहाँ फिर कवि की कल्पना को समझें। सो तो रहे हैं गंगा के किनारे और गंगा में प्रतिबिंबित है आसमान। गंगा के

जल में दिखते आसमान का प्रतिबिंब और लेटा हुआ काव्य - नायक गंगा की रेत में दिखते आसमान को उलट कर आसमान में गंगा की रेत बना देते हैं। सूरज की रोशनी में चमकता काव्य- नायक आँख मूंदे (सो रहा हूँ) दृश्य के उलट-फेर से सौन्दर्य की निर्मिति करता है। न जाने कहाँ। अब हम कवि के कल्पना जाल की गिरफ्त में आ चुके हैं, अतः इसके बाद वे जे कुछ भी हमारे सामने रखेंगे हमें अपनी सहृदय चेतना में वह समझ में आ ही जाएंगे।

न नाव है, न पतवार है, न बाँसुरी है... फिर भी हमारी कल्पना में यह सब साक्षात् हो जाता है। जो नहीं है दृश्य में, वह हमें दिखाई देने लगता है जैसे कवि को दिखता है। यहाँ कवि हमें सहृदय बना लेता है। बाँसुरी नाला- ए-बुलबुल है, बाँसुरी प्रेम का प्रति रूप है। नाव तो नहीं है पर बाँसुरी को नाव की पतवार बना कर जो नाव नहीं है उसे प्रत्यक्ष कर देते हैं; और काव्य- नायक के पास बाँसुरी तो हो ही सकती है। इसीलिए हम बाँसुरी के होने पर संदेह नहीं करते। बाँसुरी तो प्रेम का आत्यंतिक स्वर है- जिसे कृष्ण ने भी बजाया था और हेमेलीन के पाईड पाइपर ने भी बजाया था। कविता में इसके पहले मीठे दर्द वाले कबूतर आ चुके हैं। अब अगर बाँसुरी नाव की पतवार है तो जल में ही निमज्जित होगी और गीली होगी और इसीलिए उसके स्वर गीले होंगे। कितना तार्किक है सब कुछ! और यह जो प्रेम के स्वर हैं उनसे हृदय छप छप कर रहा है। आप देखिए यह पूरा बिंब कैसा है.. गंगा की रेत, उसके जल में आसमान का प्रतिबिंब और प्रेम की तीव्रता का असर मन-सर में और जो धक-धक है वही तो छप-छप है। देश और काल के साथ एक नया आयाम जुड़ता है मन का- यानि यह एक थ्यूरी डायमेशनल चित्र बनता है जिसके कारण इसका काव्य-सौन्दर्य हमें प्रभावित करता है। आप देखेंगे कवि धीरे-धीरे क्रमशः काव्य-पाठ को जटिल बना रहे हैं। आप एक क्लास से दूसरी क्लास में आगे उत्तीर्ण होते चलते हैं। हर आगे की क्लास में सहृदयता का पाठ्यक्रम कठिन होता जाता है।

हमारी यह समझ है कि हमारी संतानें हमारी मौत सँवारती हैं- विशेष रूप से पुत्र। और वह जन्म हमारे भीतर से ही लेता है। यह हमारे प्रेम का प्रतिरूप भी होता

अनुशीलन

है। तो व्यक्ति जब प्रेम करता है तो वह उसीके भीतर से जन्म लेता है। और यह प्रेम ही उसकी मौत सँवारता है। प्रेम नहीं किया तो जीवन में क्या किया। अब सवाल इंजेक्शन और प्वाइजन के लेबल वाली दवाइयों का है। यह बिंब कवि को अपने जीवन के अनुभवों में से मिला होगा। उन्होंने कुछ समय अपने ससुरजी की दवा की दुकान में काम किया था। 'पैदा हुआ है'- पुल्लिंग इसलिए कि चाहे प्रेमी हो या प्रेमिका उनका उल्लेख पुल्लिंग में हो सकता है, उर्दू ज़बान में यह सामान्य है- मेरा महबूब आया है.. वो आए घर हमारे खुदा की किस्मत है...इत्यादि इत्यादि।

यह हो सकता है एकतरफ़ा प्रेम की भी बात हो..। संभावना तो है। अरे भाई प्रेम की दूकान भी मैंने ही खोली थी, सामने वाले की कोई भूमिका नहीं थी। तो वहाँ शीशियों में प्वाइजन ही होगा। इसमें आश्चर्य क्या! चिकोटियों का बिंब बड़ा लोकजन्य है। हमारे रोज़ के जीवन में चिकोटियाँ आती हैं और वे तभी काटी जाती हैं जब दोनों के बीच कोई प्रेम का रिश्ता हो- वह शब्दहीन भाषा है प्रेम की। यानी कवि ने हमें यह बता दिया है कि काव्य- नायक जिस प्रेम की बात हमें बता रहा है वह तो काव्य-नायक की ओर से है अतः माशूका की कोई ज़िम्मेदारी न भी हो। पर मनुष्य का मन तो हमेशा यही चाहता है कि अपनी तरफ़ से किए हुए प्रेम के प्रति भी सामने वाला ज़िम्मेदारी उठाए – ऐसी उम्मीद तो वह मन-ही-मनकरता ही है।

वह मुझ पर हँस रही है, जो मेरे होठों पर एक तलुए के बल खड़ी है मगर उसके बाल मेरी पीठ के नीचे दबे हुए हैं और मेरी पीठ को समय के बारीक तारों की तरह खुरच रहे हैं उसके एक चुम्बन की स्पष्ट परछाईं मुहर बनकर उसके तलुओं के ठप्पे से मेरे मुँह को कुचल चुकी है उसका सीना मुझको पीसकर बराबर कर चुका है।

उपरोक्त पंक्तियों से उभरता अभिधात्मक चित्र कल्पना में भी असंभव लगता है। हिन्दी कविता में आए कठिनतम चित्रों में से एक है। अतः इन पंक्तियों को लक्षणा और व्यंजना के स्तर पर समझना पड़ेगा। या कहें कि प्रतीक और संदर्भ के साथ समझना आवश्यक है। यहाँ जो काव्य-नायक की प्रेमिका है वह सरापा - अर्थात् सिर के

बालों से लेकर पाँव के तलुओं तक- काव्य-नायक पर हँस रही है। यह जो प्रेमिका है यह खुद दुनिया की ही प्रतीक है जो प्रेम करने वाले पर इसी तरह हँसती है। बाल समय का प्रतीक है जो काव्य नायक को खुरच रहे हैं। समय हमें खुरच कर धीरे-धीरे खा रहा होता है, समाप्त कर रहा होता है। यह चित्र सघन प्रणय के क्षणों का हो सकता है, जो कितना पीड़ादायक है-

उसके एक चुम्बन की स्पष्ट परछाईं मुहर बनकर उसके तलुओं के ठप्पे से मेरे मुँह को कुचल चुकी है उसका सीना मुझको पीसकर बराबर कर चुका है।

अगर कवि ने 'मुझको' शब्दों का प्रयोग नहीं किया होता, फिर भी ये पंक्तियाँ वॉयलेट लव मेकिंग की श्रेणी में आ सकती हैं। पर 'वह मुझ पर हँस रही है' – कहने से बात बदल जाती है। प्रेम में जो कुछ सुंदरता और काम्यता को जन्म देता है चुम्बन -आलिंगन सभी, वही नाश के लिए ज़िम्मेदार है। अब जिसके बाल मैल-से रूखे और गरदन से फिर भी चिपके हुए हों... उनकी तो हँसी ही उड़ सकती है। हाँ, अगर यह कोई वसन्त सेना होती और गरीब चारुदत्त के प्रेम में पड़ी होती, तो अलग बात थी। आकर्षण और सौन्दर्य का प्रतीक तो बाल होते हैं, सिद्धार्थ को भी वे काट देने पड़े थे। मोह पाश में वही बाँधते हैं। काव्य-नायक प्रेम कर रहा है, पर पा नहीं रहा -यह अनुभूति तो स्वयं मरणांतक है। स्पर्श का सर्वाधिक लालायित करने वाला प्रियतर स्वरूप ही घोर हिंसात्मक हो गया। जन्म लेते ही शिशु माँ के चुम्बन के लिए लालायित रहता है। वह अनिवार्य रूप से खफीफ और मीठा होता है। यहाँ कवि ने जो भाव चित्र खींचा है, वह सरल नहीं है। पर अर्थ तो वह तभी देगा अगर उसे अभिधात्मक न समझा जाए। पर अर्थ अगर नहीं भी समझना है, तो प्रयुक्त की गई शब्दावली और उससे उभरता चित्र अपने विरोधाभासी चमत्कार के कारण पाठक को भी पीसकर बराबर कर देता है और जैसे कबूतरों की ग़ज़ल न समझने के बावजूद मन को लुभाती है वैसे ही यह चित्र असंभव लगते हुए भी काव्य-नायक का कुचला जाना और पिसा जाना पाठक की सहानुभूति जीत ले जाता है। और इसीलिए जब इसके बात कवि के भीतर से आर्त नाद- नाला ए बुलबुल, बाँसुरी के गीले स्वर सुनाई पड़ते हैं तो नायिका

के प्रति पाठकों की सहानुभूति समाप्त हो जाती है। काव्य-नायक का काऊटेंस और कंडीशन के बारे में हमें पहले ही कवि ने बता दिया है अतः हम यह नहीं कह सकते हैं क्यों प्रेम किया और ऐसी नायिका से...। अगर प्रेम किसी प्रकार के नियम मानता तो यह संसार अमर प्रेम कथाओं से रिक्त होता। फिर जीने योग्य भी नहीं होता- शायद।

ऊँचे पहाड़ से जिस तरह एक तेज़ गति झरना नीचे गिरता है और अपने नाद और भीगेपन से चारों तरफ तरफ के परिवेश को सराबोर कर देता है इस तरह सराबोर काव्य-नायक के प्रेमार्त स्वर को सुना जा सकता है आगे की लगभग 21 पंक्तियों में। मुझे प्यास के पहाड़... से लेकर आईनो मैं तुम्हारी ज़िंदगी हूँ तक। यहाँ भावावेग का ग्राफ एकदम ऊँचाई पर पहुँच जाता है। कबूतरों ने एक ग़ज़ल गुनगुनाई से प्रेम का जो भाव जो धीरे-धीरे बना था वह 'आईनो मैं तुम्हारी ज़िंदगी हूँ' तक आते-आते अपने पूरे उफान पर आ जाता है जो फिर क्रमशः 'एक फूल उषा की खिलखिलाहट' से धीरे धीरे शमित होता है और 'उदास रंगीनियाँ थी फ़कत' तक आते-आते एकदम शांत हो जाता है। भावोत्थान और भाव शमन की यह कविता इसीलिए अपनी संरचना में रोमांटिक लगती है। लेकिन इसके भीतर यथार्थ चित्रों की जो झलकियाँ हैं वह यह भी कहीं न कहीं प्रतीति करवाती हैं कि प्रेम का उत्ताप रोमानी है पर काव्य - नायक एकदम डाऊन टू अर्थ है। वह यह नहीं भूलता कि भावों के विविध रूप और विषय भी ग्लैमरस हो सकते हैं, पर आश्रय नहीं।

पहाड़ पर से गिरते झरने सुंदर दृश्य निर्मित करते हैं। यह हमारा जाना पहचाना दृश्य है। हम पहाड़ पर नहीं भी गए हों तब भी हमने चित्रों में यह दृश्य देखा है और उसकी सुंदरता के कायल हैं। प्रेम जो दूर से सुंदर दिखाई पड़ता है उसका वास्तव यही है कि वह प्यास के पहाड़ हैं जो झरने से बुझ नहीं सकते। प्यास के पहाड़ की कल्पना ही अद्भुत है। पहाड़ कोई एक-दो दिनों में थोड़े ही बन जाते हैं। कितने वर्षों तक भीतर कितनी उथल-पुथल होती है तब कहीं जा कर पहाड़ों की सृष्टि संभव है। कवि प्रेम की प्यास के पहाड़ों की बात कर रहे हैं। और यह कोई एक जन्म में थोड़े ही बन जाते हैं। तभी तो

कवि कहते हैं- 'अगले जन्म में-'। तो यह जन्म-जन्मांतर के अंतः संघर्षों से निर्मित प्यास के प्रेम-पर्वत हैं जिस पर काव्य-नायक एक झरने की तरह है, वह तड़प रहा है क्योंकि जन्म जन्मांतर की प्यास है जो बुझ नहीं रही है। स्थाई भाव भी तो जन्म-जन्मांतर के चले आते हैं। झरने पर पड़ती सूरज की किरणें भी सौन्दर्य सृष्टि करती हैं। ताप और जल का विरोधाभास- उससे निर्मित सौंदर्य सृष्टि-ताकि उसकी आँच और लपट में तुम फ़ौवारे की तरह नाचो।

ऐसे ही तो निर्मित होती है कविता सृष्टि। अपनी देखी हुई वस्तु पर अनुभूति का आरोपण जिससे भाव सृष्टि निर्मित होती है, जो वस्तुतः कविता होती है। कवि कुल गुरु रवीन्द्रनाथ यही करते हैं। देखी हुई वस्तु पर अनुभव का आरोपण जिससे काव्य भाव सृजित होता है। पहाड़ों पर बहते धूप में चमकते झरने के दृश्य पर प्रेम की अंतहीन ललक के अनुभव को इस तरह आरोपित किया है कि एक अद्भुत भावसृष्टि का निर्माण हुआ। आश्चर्यजनक चित्र भरी कविता की पंक्तियाँ अस्तित्व में आईं। इन पंक्तियों में प्रकट व्यंजना के कितने स्तर हैं यह भी देखने की बात है। उसी को विस्तार देते हुए कहते हैं-

मुझको जंगली फूलों की तरह ओस से टपकने दो, ताकि उसकी दबी हुई खुशबू से अपने पलकों की उनीदी जलन को तुम भिगो सको, मुमकिन है तो।

काव्य-नायक का प्रेम अकारण है। और इसीलिए सहज भी। जंगली फूलों से टपकने वाली ओस जैसा। जिसमें खुशबू नहीं है पर एक ताज़गी अवश्य है। और महत्वपूर्ण बात है यह अंश- 'मुमकिन हो तो'। एक ग़ज़ब की विनम्रता और चुनौति एक साथ। यहाँ से एक नई बात भी आरंभ होती है। चुपचाप। अब काव्य नायक अपने स्वाभिमान को असर्ट करने की प्रक्रिया में आता है। प्रेम में वह क्या चाहता है। 'तुम मुझसे बोलो जैसे मेरे दरवाज़े की शरमाती चूल्हे....सवाल करती हैं मेरे दिल के अनगिनती कमरों से..।' 1948 में 'सावन' कविता में और 1949 में 'आओ' कविता में कवि ऐसी ही एक आर्त पुकार और ललक से नायिका को पुकार चुके हैं। 'तुम आओ न' (सावन) और तुम आओ तो खुद मेरा

अनुशीलन

घर आ जाएगा, इस कोनो-मकाँ में तुम जिसकी हया हो, लय हो' (आओ)।

इसके बाद का लगभग बीस इक्कीस पंक्तियाँ प्रेम की सघन अभिव्यक्ति के उत्तम सौन्दर्यवादी उदाहरण के रूप में हमारे सामने खुलते हैं। यह पंक्तियाँ जहाँ एक ओर हमें मोहती हैं क्योंकि इनमें सर्वथा नए और ताज़ा बिंब प्रतीकों का उपयोग हुआ है। बात को इस तरह कहा गया है कि हमें इसके पहले ऐसी अभिव्यक्तियों का साबक़ा नहीं पड़ा था। आज भी इन पंक्तियों का आकर्षण कम नहीं है। इन्हीं सौन्दर्याभिव्यक्तियों के बीच छुपी है वह सादी-सीधी और स्पष्ट बात कि तुम मुझसे प्रेम करो जैसे मैं तुमसे करता हूँ। यह कवि की अपनी कामना है कि दोनों ओर से प्रेम की तीव्रता ही केवल एक बराबर न हो, परन्तु एक दूसरे की स्वतंत्रता की भी रक्षा हो- यह वास्तव में प्रेम की एक आदर्श स्थिति हो सकती है। संभवतः प्रेम में स्वतंत्रता की कामना और स्थिति ही उसे शोषण रहित बना सकती है। इसीलिए वे कहते हैं-

हाँ, तुम मुझसे प्रेम करो जैसे मछलियाँ लहरों से करती हैं....जिनमें वह फँसने नहीं आती, जैसे हवाएं मेरे सीने से करती हैं जिसको वह गहराई तक दबा नहीं पाती तुम मुझसे प्रेम करो जैसे मैं तुमसे करता हूँ।

अभिव्यक्ति का यह नयापन हमारे सहृदय को बाँध लेता है। लहरें मछलियों का जीवन हैं, साँसें सीने में घुट जाएं तो जीवन संकट में आ जाए, प्रेम ऐसा ही हो जो जीने का स्पेस दे- जो विवश न बनाए; जो केवल व्यक्तित्व के एक अंश से प्रेम न करे। जिंदा इत्रपाश की तरह बरस पड़ने के बाद जो अपने पाँवों को किसी अनजानी दिशा में ले जाए। बिना काव्य-नायक के सजदे का की दरकार किए। यही काव्य-नायक की पीड़ा है। ये पंक्तियाँ हमें इसलिए आकृष्ट करती हैं कि कवि प्रेम की सघन रूमनियत में बिछ सकता है, लेकिन अपने आत्म सम्मान को नहीं खोना चाहता। शमशेर की कविता में प्रेमिका के लिए एक अन्य कविता में भी दर्पण का प्रयोग आता है- 'एक पीली शाम' में कवि कहता है-कि मैं हूँ

वह मौन दर्पण में तुम्हारे कहीं? इस कविता में आईनो, रोशनाई में घुल जाओ कहते हैं। यह एक बहुत ही जटिल बिंब है। प्रेमिका को कवि आईनो (दर्पण) कह कर संबोधित करता है और कहता है कि रोशनाई में घुल जाओ। कवि अपनी स्याही में आईने सी चमकती प्रेमिका जिसमें वह अपना काऊंटेन्स देखते हैं, उसे घुला लेना चाहते हैं कि आसमानों तक उनका लिखा-पढ़ा जाए। आसमान भी तो आईना ही है-दिशाओं का अनंत दर्पण (होली : रंग और दिशाएं) काव्य-नायक प्रेमिका की एक मुस्कान पर मर-मिटने के लिए तैयार है, जैसे प्रेमिका ही उनकी ज़िंदगी है अब ! यह जो रोमानी भाव है, उसका टूटना भी स्वाभाविक ही था, वरना यह कविता कहाँ से होती। प्रेम के टूटने के बाद वास्तविकता से रू-ब-रू होने पर कवि के मन में उठी एक हल्की-सी तलखी ज़रूर दिखती है, गोकि किसी से ईर्ष्या नहीं है। अगर ईर्ष्या होती तो वे हर घंटे दूसरा जन्म लेते। बल्कि वे इसी शरीर से अमर हैं। फिर कहते हैं- तुम्हारी बरकत। यही पर प्रेम के टूटने से जन्मी तलखी का हल्का-सा बोध होता है।

कविता के आरंभ में जो काव्य-नायक ने अपना काऊंटेन्स उजागर किया था, वह कविता के अंतिम भाग में अलग रूप में व्यक्त होता है- एक खुला फटा हुआ लिफ़ाफ़ा। वह लिफ़ाफ़ा जो नीचे पड़ा था, जिस उठाने का सोच कर भी नायिका ने नहीं उठाया, बस यूँ ही उसे पड़ा रहने दिया। और इसी तरह नायिका से वह वास्तविक काव्य-नायक 'मिल' लेता है।

इस कविता का सौन्दर्य इसी बात में है कि इसका आरंभ यथार्थ बिंबों से होता है और अंत यथार्थबोध से। यथार्थ के इन दो घाटों के बीच सौन्दर्य के भाव-चित्रों का अथाह सागर हिलोरे लेता है और पाठक को अपनी गिरफ्त में लेता है। यही वह कलात्मकता है, जिसके कारण 'टूटी हुई बिखरी हुई' हिंदी के कविता-देश की एक मुकम्मल और मूल्यवान रचना है; उसके रचे जाने के लगभग सत्तर वर्षों के बाद भी रचनाकारों और पाठकों के लिए एक चुनौति भी है।

संपर्क : 402, बिल्डिंग न० 2, विन्सर अरेरिया, होली क्रॉस स्कूल के सामने, कूलर रोड, भोपाल - 462042

E-mail : argader@gmail.com

श्वानों की निगाह में 'कोरोना': संदर्भ 'अल्फा-बीटा-गामा'

स्नेहा सिंह

साहित्य अकादमी पुरस्कार से सम्मानित कथाकार नासिरा शर्मा का हाल ही में प्रकाशित अल्फा बीटा गामा (लोकभारती प्रकाशन) उपन्यास मानव और मानवेतर प्राणियों के अन्तः सम्बन्ध, एक ही समाज में उनकी सक्रिय उपस्थिति के विविध पहलुओं का प्रामाणिक दस्तावेज है श्वान समाज पर केन्द्रित यह कृति मनुष्य को उसकी सोच, मानसिकता एवं सामाजिक व्यवस्थाओं से जुड़े कानून की पुनः शिनाख्त करने के लिए झिंझोरती है। मनुष्य एक सहचर प्राणी है। साहचर्य व सामंजस्य उसकी नैसर्गिक प्रवृत्ति है। प्रकृति ने कीट- पतंग, जीव-जंतुओं और मनुष्यों को एक दूसरे पर आश्रित, परस्पर अवलंबित ही बनाया है। किन्तु सभ्यता के विकास व समय के परिवर्तन ने प्राकृतिक दिनचर्या में हस्तक्षेप किया है। इसी क्रम में स्वार्थ, लोभ तथा आत्मकेन्द्रित मानसिकता का विस्तार भी हुआ है। हम 'स्व' से 'पर' की ओर नहीं अपितु 'पर' से 'स्व' की ओर उन्मुख हुए हैं। स्वार्थ व आत्मलिप्सा के मोहांध में मनुष्य इस समाज का स्वामी बन बैठा है। आत्मरक्षा, सुरक्षा एवं सुव्यवस्था की दुहाई देते हुए लोकतंत्र की आड़ में वह जीवनाधिकार पर अपना एकाधिकार मान बैठा है। फलतः हमारा अभिन्नतम साथी, सहचर, अंगरक्षक, आँगन की शोभा कहलाने वाले पालतू जीव जैसे गाय, बकरी, कुत्ता, बिल्ली आदि जो हमारी आँखों के सामने हुआ करते थे, वे प्रायः ही ओझल होते जा रहे हैं। यह चिंतनीय है। दरअसल, इस उपन्यास लेखन के केंद्र में लेखिका की यही चिंता बार-बार प्रकट हुई है। 'स्ट्रीट डॉग', सड़क के लावारिस कुत्ते को दुत्कार, फटकार, मार, तिरस्कार और गालियों की बौछार देना मनुष्य अपना अधिकार समझता है। बेचारे मूक जंतुओं को वह लोकतांत्रिक मूल्यों और जनतांत्रिक अधिकारों का गणित समझाने लगता है। कुछ लोग इसके अपवाद भी हैं। तो कुछ 'श्वान-प्रेमियों' का प्रेम नस्ल-आधारित है। देशी कुत्ते उनकी विद्रूपता को बढ़ाते हैं तो विदेशी नस्ल के कुत्ते उनके 'स्टेटस' को 'हाई' करते हैं। नासिरा जी ने दोनों नस्ल के कुत्तों को एक ही जमीन पर रखकर उन्हें बहुत करीब से देखने की कोशिश की है। मनुष्यों के लिए, मनुष्यों की दृष्टि से, मनुष्यों द्वारा निर्मित समाज तथा उसके संस्कार अब तक हम देखते आये हैं लेकिन लेखिका नासिरा शर्मा ने 'श्वानों' की दृष्टि से, 'स्ट्रीट डॉग' की अनुभूतियों, संवेदनों से इस समाज को पुनः विश्लेषित करने का विकट प्रयास किया है। इतना ही नहीं उन्होंने उसी 'स्ट्रीट डॉग', सड़क के लावारिस, अवहेलित कुत्तों को अपने उपन्यास का नायक भी बनाया है, यह रचनाकार की संवेदनशीलता का परिचायक है, साथ ही सूक्ष्मदर्शिता का भी। महत्वपूर्ण तथ्य है कि नासिरा जी ने 'कोरोनाकाल' के समाज-यथार्थ की तटस्थ आलोचना के लिए आलोचक की भूमिका में 'श्वान- समाज' को ही उपयुक्त पात्र समझा है, क्योंकि इनकी शब्दविहीन-चेतना किसी विशेष राजनीतिक- रंगों

से प्रेरित नहीं है। उनका अनुभव-सत्य दोपायों के अनुभव-सत्य से कहीं अधिक तर्कातीत और वैज्ञानिक है। उन्होंने 'प्राकृतिक-प्रकोप' के साथ-साथ मानव-निर्मित प्रकोपों को भी खुली आँखों से देखा और सहा है। वें अपनी घ्राण-शक्ति से रातोंरात लगे 'लॉकडाउन', सूनी होती गलियारों, ताली और थाली पीटने के गणित को समझने का उपक्रम कर रहे थे— "पाँच मिनट का यह शोर उनके लिए उतना ही जानलेवा था जितना उड़ती चिड़ियों के लिए। बिल्लियाँ, सूअर, गाय— सब अपनी जगहों पर थम-से गए। ध्वनि-प्रदूषण ने आसमान सिर पर उठा लिया।....यह कौन-सी दीवाली है, जिसमें आतिशबाज़ी की जगह खुद इंसान अनार और पटाखे बन गए हैं?" (पृष्ठ- 157)

'लॉकडाउन' और 'भूखमरी' दोनों एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। जिसके सर्वग्रासी उन्माद ने मनुष्य तथा जीव-जंतुओं में एकरूपता भर दी। 'कोरोना संक्रमण' से बचाव के निर्देशों ने आम जनता के साथ-साथ समस्त जीव-जंतुओं के लिए प्राण- संकट खड़ा कर दिया। "भूख से बड़ा न कोई सच है, न कोई दर्शन है।"— इस बुनियादी सत्य को दृष्टिगत करते हुए लेखिका ने दिहाड़ी मजदूरों की पैदल-यात्रा, किसान-आन्दोलन, लॉकडाउन की राजनीति, कालाबाजारी, बाज़ार का विस्तार, मॉल-संस्कृति, किसानों-मजदूरों का विस्थापन, वनक्षरण के फलस्वरूप विस्थापित जीव-जंतुओं का अस्तित्व जैसे मुद्दों को संजीदगी से व्याख्यायित किया है, वे लिखती हैं— "भूख कुत्तों के साथ उन दिहाड़ी मजदूरों को भी परेशान करने लगी थी जो लॉकडाउन के कारण घर जाते-जाते बीच में अटक गए थे।" (पृष्ठ- 161) 'कोरोना' कालीन स्थितिओं का जायजा लेते हुए वरिष्ठ आलोचक 'अखग होता' 'भूख' के संदर्भ में लिखते हैं— "गरीब, मजदूर, श्रमिक तबाह हो गए। लगभग बीस करोड़ लोग बेरोजगार हो गए। भवन निर्माण, वस्त्र उद्योग, ईंट भट्टियों, घरेलू कार्यों, कृषि, परिवहन, खदान

आदि में काम करने वाले मजदूरों का काम ठप्प हो गया।....पैरों में फफोले लिए तमाम मजदूरों को यह कहते सुना गया कि 'कोरोना से मरें न मरें भूख से ज़रूर मर जायेंगे।' ('तिमिर में ज्योति जैसे', भूमिका से, पृष्ठ- 09)

'कोरोना महामारी' और 'लॉकडाउन' की राजनीति ने काल-चक्र में गहरा हस्तक्षेप किया है। मार्च 2020 में लॉकडाउन की घोषणा ने पूरे जीवन-प्रवाह को स्तब्ध कर दिया। किन्तु यह स्तब्धता किन स्तरों पर लागू हुई थी ? यह पर्यवेक्षण का विषय है। मानव समेत समस्त जीव- जगत की दिनचर्या थम गयी। पौराणिक संस्कृति की दुहाई देते हुए हमें सभ्य-नागरिकों के कर्तव्य याद दिलाये जाने लगे। पर्यावरण- प्रदूषण के प्रति हम इतने सचेत हुए कि हमारे सहजीवी मानवोत्तर जीवों के लिए अन्न के लाले पड़ गए किसी ने उनकी परवाह तो दूर, उनके बारे में सोचा तक नहीं। यहाँ अनायास ही नागार्जुन की 'अकाल और उसके बाद' की 'कानी कुतिया' का अक्स उभर आता है। किन्तु 'कोरोना' काल में उनकी स्थिति और भी मर्मन्तक हो उठी थी। नागार्जुन की कुतिया 'कानी' थी इसलिए वह अन्न की खोज में दूसरे गाँवों में नहीं जा सकती थी किन्तु कोरोना काल में तो 'कुत्तों' के पास यह विकल्प भी शेष नहीं था— "अक्सर कुत्ते अपनी ऊँघती हालत में गुजरे दिनों के सपने देखते और सोते में पेट भर खाकर जब जागते तो फूट-फूटकर रोते।" इतना ही नहीं 'एम्बुलेंस' की लाल बत्ती और सनसनाती आवाजों ने हमें इतना दहशत से भर दिया कि हमने अपने आस-पास स्थित पक्षियों के घोंसलें उजाड़ दिए, भूख से बेचैन जानवरों को जहर- सना स्वादिष्ट भोजन खिलाकर मार डाला, और तो और कभी लाखों में खरीदे गए, हमारे बहुत ही प्यारे, हमबिस्तर हुए, विदेशी कुत्ते, बिल्लियों को बोरे में भर-भरकर नहरों-नालों में छोड़ दिए। वस्तुतः यह हमारी हैवानियत तथा दरिदगी की पराकाष्ठा है; अतः लेखिका कहती हैं— "इंसान सबसे बड़ा खूंखार दरिदा है।" (पृष्ठ- 189)

अनुशीलन

पूरा विश्व जब आर्थिक जीवन-मूल्य के संकटों से जूझ रहा था ऐसे में अबाध गति से देश में चुनाव-प्रक्रिया जारी रही चुनाव के नतीजों को लेकर राजनीतिक-दलों की भिड़ंत किसी से छिपी नहीं है।

‘ऑनलाइन प्लेटफार्म’ पर सुनियोजित ढंग से समस्त कार्य किये जा रहे थे। क्लासेस चल रही थीं।

शॉपिंग मॉल खुले थे। तब यह सवाल महत्वपूर्ण हो उठता है कि यह घोषित ‘लॉकडाउन’ किसके लिए था? या फिर यों कहा जाय कि यह कॉर्पोरेट वर्ल्ड को सुदृढ़ करने का एक सुनियोजित अभियान ही सिद्ध हुआ; तो अतिशयोक्ति नहीं होगी। क्योंकि ‘लॉकडाउन’ के दौरान जो लोग बेरोजगार हो गए उनके पास आज कोई मुकम्मल विकल्प शेष नहीं है। चीजों की ‘ऑनलाइन’ उपलब्धता ने जहाँ लोगों को सुविधाएँ दी हैं, वहीं अनेकों के निवाले छीन भी लिए हैं। इन विरोधाभासी अनुभवों से गुजरती हुई लेखिका लिखती है—“लग रहा था, अचानक सोच-विचार के स्तर पर ऑक्सीजन कम हो गई है। मछली तो क्या तालाब से मुँह निकालती, जो हाल घुटते- कुढ़ते इंसानों का हो रहा था। बेशक इंसानों की इस कैफियत को परिंदे व चरिंदे भी महसूस कर रहे थे।” (पृष्ठ- 206)

नासिरा जी ने लूडो की बिसात पर बड़े प्रतीकात्मक ढंग से ‘लॉकडाउन’ की पूरी प्रक्रिया के आर्थिक, सामाजिक-प्रभावों एवं मानसिक तनावों का लेखा-जोखा प्रस्तुत किया है। ‘समय का खेल’ नामक इस लूडो-बिसात पर ‘शाहीन बाग धरने का आरम्भ’, 14 दिसम्बर 2019 से ‘दो माह छह दिन रहा लॉकडाउन’ का ग्राफ ‘डूब गई दुकनिया 40 साल पुरानी’ के परिणाम का साक्ष्य प्रस्तुत करती है।

उपन्यास में उल्लेखित बुद्धिजीवी पात्र मोहन जी, तिवारी जी, रिजवान इस ग्राफ के मद्देनज़र महामारी की आड़ में फैली राजनीतिक दांव-पेंच को समझने की कोशिश करते हैं। जिसके फलस्वरूप न जाने कितने

व्यवसायियों का व्यापार और नौकरियाँ चली गयी थीं। किसानों को झांसा देकर उन्हें बाज़ार का घास बनाया जा रहा था, उन्हें उनकी जमीन से बेदखल करने का षड़यंत्र खेला जा रहा था। लेखिका के शब्दों में कहें तो “मंडी का मसला कॉन्ट्रैक्ट- फॉर्मिंग में उलझा दिया.....कहते हैं, कहीं भी जाकर बेचो। किसान न हुआ, फेरीवाला हो गया है क्या?” (पृष्ठ- 211) वस्तुतः भूमंडलीकरण की गलत अवधारणाओं ने हमें कॉर्पोरेट शक्तियों का दास बना दिया है, जो सनैः सनैः अब हमारी धरती पर भी कब्जा करना चाहती हैं। हैरत की बात यह है कि हम खुली बांहों से उनका स्वागत भी कर रहे हैं। तभी तो महीनों से चली आ रही किसानों की हड़तालें, उनकी मांगें, नज़रंदाज की जाती रही हैं। दूसरी तरफ मनुष्यों सहित जंतु-जानवरों और परिन्दों की बसावट उजाड़कर बड़े-बड़े शॉपिंग-मॉल खड़े किये जा रहे हैं। हाँलाकि इन तथ्यों से हम पहले भी परिचित हैं। किन्तु इस बार लेखिका के संवेदन-केंद्र में मुख्यधारा से कटे व्यापक जनसमुदाय के साथ-साथ निरीह जीव-समुदाय भी शामिल हैं जो अपनों से बिछड़ गए हैं, जो बसावट की खोज में भटकते हुए अपने अस्तित्व को तलाश रहे हैं। उपन्यास का कथानायक मोती (कुत्ता) का दर्द भरा विलाप उसकी भावी आशंकाओं को मूर्त करता है—“मुझे डर है कि कहीं मैं इस पुरखों के मोहल्ले और सुनसान पड़ी गलियों में तनहा आखिरी सांस न लूँ” (पृष्ठ- 214) जिस देश की धरती पर ‘कॉर्पोरेट-वर्ल्ड’ की भीत को मजबूत किया जा रहा हो, पूरे देश की अर्थव्यवस्था का दायित्व कुछ गिने-चुने हाथों में सौंप दिया गया हो, वहां आदमी और पशु में कोई अंतर नहीं रह जाता है। यह बात अलग है कि दोनों की संवेदनाएं समान हैं। शायद यही कारण है कि कथाकार ने उपन्यास के अंतिम पृष्ठों में मजदूर और मोती (कुत्ता) को अभिन्न रूप में दिखाया है। दोनों ही अपनों से बिछड़ गए हैं, बसावट से उजाड़ दिए

अनुशीलन

गए हैं, अतएव उनकी भावात्मक ऊष्मा एक-दूसरे का आलंबन बन रही है— ‘दुःख इंसान और जानवर में फर्क नहीं करता।’ (पृष्ठ- 216) यहाँ अनायास ही प्रेमचंद की कहानी ‘पूस की रात’ में हल्कू और जबरा का सान्निध्य साकार हो उठता है। ‘अल्फ़ा- बीटा-गामा’ ‘कोरोना त्रासदी’ के विविध जीवनानुभवों को, अलग-अलग कोलाजों में ‘श्वान- सुर व दृष्टि’ के साथ व्यक्त कर रहा है। ध्वनि-सम्प्रेषण में अलग होते हुए भी भाव-सम्प्रेषण में एकरूप है। मनुष्य की तरह ये प्राणी भी समाज में शांति, सुव्यवस्था, प्रेम, भाईचारा और मानवतावाद की स्थापना चाहते हैं। मानव-समाज के साथ सामंजस्य चाहते हैं। वे मानव-विहीन समाज की कल्पना भी नहीं करते जबकि मनुष्य हमेशा ही उन्हें खदेड़ना चाहता है। समाज में फैला सांप्रदायिक-विद्वेष, हिंसा, तनाव, मनुष्य-मनुष्य की मुठभेड़, उन्हें विचलित करती है, उनके विवेक एवं संवेदनशीलता का परिचय वहां मिलता है जहाँ मनुष्यों की निकृष्ट प्रवृत्तियों की आलोचना करते हुए वे कह उठते हैं—“हम भी लड़ते हैं, अपनी गली में दूसरे को घुसने नहीं देते हैं, मगर दूसरों के मोहल्ले में जाकर गैंगवार नहीं करते, न ही मुद्दों की लाईनें लगा देते हैं।” (पृष्ठ- 200) उनकी सभाओं में मानवतावाद का शंखनाद किया जाता है। ‘मुहब्बत’ नाम की दवा से वे समाज को अस्वस्थ करने वाली हिंसक-मनोवृत्ति का उपचार करना चाहते हैं—‘सख्ती का जवाब नरमी से, कडवाहट का जवाब मिठास से, बदतमीजी का जवाब अदब से, गाली का जवाब धैर्य से....’ वस्तुतः ‘अल्फ़ा-बीटा-गामा’ गणित और विज्ञान में प्रयुक्त होने वाले कुछ प्रतीकात्मक चिह्न

हैं, जो सकारात्मक ऊर्जा- किरणों के साथ सूक्ष्म तत्वों को भेदने की क्षमता रखते हैं। महामारी के दौरान पूरे विश्व में ‘कोरोना’ के विभिन्न वेरिएंट के लिए इन नामों का प्रयोग किया गया—‘अल्फ़ा’, ‘बीटा’, ‘गामा’, ‘डेल्टा’ आदि। तात्पर्य यह कि ‘वेरिएंट’ चाहे जो रहा हो जनसामान्य एवं मानवोत्तर जीवों की त्रासदी बद से बदतर ही रही सर्वत्र। ‘कोरोना महामारी’ के दृष्टान्तों को हम सभी ने देखा- सुना, पढ़ा एवं भोगा है। किन्तु जो न अखबार पढ़ते हैं, न खबरें सुनते हैं, न चुनाव लड़ते हैं, न शतरंज खेलते हैं, और जो न ‘डिग्री होल्डर’ हैं, उन स्वावलंबी चौपायों के भाव- सम्प्रेषण से ‘कोरोना’ त्रासदी का पुनः सम्यक आकलन नासिरा शर्मा का उद्देश्य है। उपन्यास में लेखिका ने कुछ सुधीजनों एवं पशु- प्रेमियों कार्तिक, डॉ शशिधर, ब्रिगेडियर लाल द्वारा चलायी जाने वाली एन.जी.ओ., ‘पालनहार’, ‘एनिमल फस्ट’ जैसी संस्थाओं का उल्लेख कर मानवोत्तर समाज की सुरक्षा तथा संरक्षण हेतु मानव-समाज को दिशानिर्देश दिया है।

उन्होंने मनुष्य और पशुओं के सहजीवी-सम्बन्ध के मद्देनज़र पारित कानून की चर्चा कर उसके अनुपालन और उनके प्रति संवेदनशील-दृष्टि अपनाने की अपील की है। निश्चय ही यह एक सकारात्मक प्रयास है। कहा जा सकता है कि ‘अल्फ़ा, बीटा, गामा’ एक ओर उपन्यासकार के व्यापक संवेदनात्मक विकास का दृष्टांत है तो कोरोनाकालीन समय और समाज के यथार्थ का चित्रण करने वाला एक उल्लेखनीय कृति है।

संपर्क : स्नेहा सिंह, असिस्टेंट प्रोफेसर, (हिंदी) वीमेंस कॉलेज, पश्चिम बंगाल,

कोलकाता- 700003, मो -9475396089

नवगीत की रचना करने वाले कवियों ने नई कविता का विरोध कभी नहीं किया। जब तक आधुनिकता का भाव-बोध मानव मन में रहेगा, तब तक आधुनिकता जीवित रहेगी। हर विधा के दो रूप सदा से ही हम देखते आए हैं, पारंपरिक और नव्य।

नई कविता का दौर आंदोलन का था, इसलिए समय के साथ क्षीण होता चला गया। नवगीत आंदोलन नहीं विचार है, जो समय के साथ और भी मुखरता से प्रकट हो रहा है। इसी समय डॉ. शंभूनाथ ने नवगीत दशक - 1, नवगीत अर्धशतौ आदि का संपादन किया। नवगीतों की रचना में प्रकृति को आधार बनाया गया। यहां एक बात और दृष्टिगोचर हुई कि कवि की काव्य पंक्तियों में जिस प्रकृति का वर्णन है, वह हमारे आसपास की है। किसी तरह के अतिशयोक्ति से पूर्ण नहीं। रामनरेश पाठक की काव्य पंक्तियों के माध्यम से स्पष्ट है-

“कचनार की एक डाल है,
सूख रही है।
एक गीत है, कढ़ नहीं रहा...
एक गंध है, उड़ नहीं रही
एक दर्शन है, शब्द नहीं पा रहा!”

(‘मैं अथर्व हूं’ गीत संकलन एक वंध्या संध्या पृ.39)

आंचलिकता की यह छाप हमें नवगीत के माध्यम से दिखाई देती है। कहते हैं - वर्तमान में जीना चाहिए, लेकिन नवगीतकार अपने अतीत को कभी भुला ही नहीं पाते। वे अक्सर अपने अंचल की, अपने गांव की माटी की सुगंध को गीतों की पंक्तियों में उड़ेल देते हैं। डॉ. शंभूनाथ सिंह लिखते हैं-

“चांदी जैसी धूप
कभी नहीं अंट पाया
मेरे मन में इनका रूप
ये बचपन के खेल-खिलौने
डलिया मौनी सूप।”

प्रारंभ में नवगीत पर उत्तर छायावाद का प्रभाव स्पष्ट दिखाई देता था। कविताओं का मंचन आरंभ हुआ, कई नाम यकायक अपनी विशिष्ट काव्य शैली और नव्यताधारित गीतों के कारण लोकप्रिय हो गए यथा हरिवंश राय बच्चन एवं गोपाल दास ‘नीरज’ इन्होंने अपनी कविताओं में प्रेम की व्यक्तिकता एवं मांसलता को आश्रय दिया। पहले तो लगभग सभी नवगीतकारों ने इनको आदर्श मानकर पदानुकरण किया किन्तु जल्दी ही वे अपने सुर अलग करने लगे और अब वह अपने प्रेमाभिव्यक्ति में दर्द एवं एकाकीपन का समावेश करने लगे। कुमार शिव ने गीतों के माध्यम से कहा-

“नाच रहे हम तकली जैसे

अनुशीलन

बज उठते हम ढपली जैसे
हँसते हैं पर हैं उदास। ”

नवगीत के नामकरण में ही नव्यता है अर्थात् गीत सृजन की अंतर्वस्तु से संबंधित कोई विशिष्टता हम भांप ही नहीं पाते यह मूलतः शिल्प को केंद्र में रखकर लिखे जाते हैं। इस काव्यांदोलन से पहले हिंदी-कविता छंद मक्तता की ओर अग्रसर होती चली गई वह अपने मौखिक आधार से विलग होती गई। छंदविहानता के द्वार पर खड़ी हिंदी-कविताएं शुक्ल जी के इस कथन ‘छंद से कविता की आयु बढ़ती है’ को आत्मसात करने लगी और अपेक्षाकृत कम दीर्घजीवी हो गई। नवगीत ने हिंदी काव्यधारा को नया जीवन दिया है और जन-सामान्य की सोच से हिंदी कविता को जोड़कर इसका पुनर्वास संभव बनाया है। आज नवगीत ने स्वच्छंदतावादी परिप्रेक्ष्य में जो अपनी उपस्थिति दर्ज कराई है वह प्रशंसनीय है। बुद्धिनाथ मिश्र जी कहते हैं-

“एक बार और जाल फेंक रे मछरे
जाने किस मछली में बंधन की चाह हो ”

‘गीतांगिनी’ के संपादकीय के रूप में नवगीत का घोषणा पत्र प्रस्तुत करते हुए राजेंद्र प्रसाद सिंह ने नवगीत के पाँच विकासशील तत्वों का उल्लेख किया है, जो क्रमशः जीवन-दर्शन, आत्म-निष्ठा, व्यक्तित्व-बोध, प्रीति तत्व और परिसंचय है। हमारे जीवन का आधार केवल दर्शन नहीं अपितु धर्म-निष्ठा और रहस्य की निष्ठा भी होनी चाहिए। पूर्व के गीतों में व्यक्तिवादिकता की प्रधानता थी, व्यवहारिकता लुप्त थी। प्रणय को ही श्रृंगार का रूप दिया गया था, प्रीति-तत्व का बोध नहीं था। प्रतिमान स्वरूप सौंदर्य और मार्मिकता के विषय थे। प्रेरणा के विविध स्वरूपों के परिसंचय का ह्रास था। ‘गीतांगिनी’ में निराला के संकलित गीत पर दृष्टिपात करें तो वैधानिक ही नहीं भाषिक संरचना के आधार पर भी उनके गीत दूसरे गीतों से भिन्न और विशिष्ट हैं यथा-

“मानव जहाँ बैल घोड़ा है,
कैसा तन-मन का जोड़ा है
किस साधन का स्वांग रचा यह।

देख रहा है विज्ञ आधुनिक,

वन्य भाव का यह कोड़ा है। ” (गीतांगिनी पृ. 6)

राजेंद्र प्रसाद सिंह की तीसरी कृति ‘दिग्वधू’ (1956) जो की मुख्यतः कविता संग्रह है। जिसमें कुछ ऐसे गीत हैं जिन्हें उनकी प्रथम घोषित नवगीत कृति ‘आओ खली बयार’ को नए प्रार्थना गीतों की श्रृंखला से जोड़ा जा सकता है। राजेंद्र प्रसाद के लगभग 100 गीत अपनी नई शैली में प्रस्तुत हो चुके थे जिसमें नवगीत के समग्र तत्वों का समावेश हमें दिखाई देता है। चंद्रदेव सिंह द्वारा संपादित कविताएं 1956 में संकलित उनका गीत ‘विरजपथ’ की कुछ पंक्तियां द्रष्टव्य हैं।

“इस पथ पर उड़ती धूल नहीं

खिलते-मुरझाते किंतु कभी

तोड़े जाते ये फूल नहीं

खुलकर भी चुप रह जाते हैं ये अधर जहाँ

अधखुले नयन भी बोल-बोल उठते जैसे ”

नवगीत सृजनकर्ताओं ने अपने मन के भावों को काव्य पंक्तियों में समाहित कर जन-जन के हृदय को आंदोलित किया है छायावादोत्तर काल की यह काव्य दिशा युवा मानसिकता का बहुकोणी आवेग तो प्रस्तुत करती ही है, साथ ही लोग सामान्य में प्रचलित बिंब ‘चौमुख दियना’ के माध्यम से अपनी भावकुता को भी समाज की मुख्यधारा में ला खड़ा करती है और लोकधर्मी प्रतीकों का मान बढ़ाती है। नरेंद्र शर्मा के गँजूते गीतों में-

“चौमुख दियना बाल धरूँगी चौबारे पर आज

जाने कौन दिशा से आवें मेरे राजकुमार! ”

वस्तुतः हिंदी जनगीत, नवगीत का और नवगीत, जनगीत का ही समयानुकूल विकसित रूप है, जिसकी गीतात्मक रचना को नवगीतकारों ने प्रासंगिक बनाए रखा है और हार्दिकता को धता बताकर नारेबाजी के स्थान पर जन विषयों को कविताओं में आश्रय दिया।

संपर्क : एच.आई.जी. 2/349 वार्ड न० 49,

बोरसी, दूर्ग, छत्तीसगढ़ - 491001 मो० 9993333345

सिर्फ कविता कहना ही, कवि का न कर्म होना चाहिए।

इसमें उचित संदेश और संकेतों का भी मर्म होना चाहिए।।

कवि के मन में कविता का जन्म होता है। कोई भी कविता कवि की आंखों, मन और हृदय से होती हुई कागज पर उतरती है। कवि के शब्दों की पारखी नजरें कविता को तरासती, संवारती उसे अनुभूति के सांचे में ढाल देती है। जब कविता का सामाजिकरण होता है तब कविता में छिपे अनेकों भाव उजागर होते रहते हैं। ढेरों संकेतों, भावों, बातों को समेटकर अपनी बात कह देना कविता की अपनी विशेषता होती है। अपने आरम्भिक यात्रा से लेकर अब तक कविता ने कई विशेषताओं से स्वयं को सम्पन्न बनाया है। जब-जब कवि के मन में कोई भाव उद्वेलित होता है तब कविता पनपने लगती है। कविता कवि की अनुभूति क्रम, चिंतन, संवेदना को वर्णित करने के साथ रचनात्मक परिकल्पना को साकार बनाती है। कहा जा सकता है कि कवि कविता के माध्यम से अपने आत्म-भाव की अभिव्यक्ति कई प्रकार के बिम्बों, प्रतीकों के सहारे उजागर करता है। यही बिम्ब, प्रतीक और रूप कविता की भाषा को संवेदनशील बनाने में सहायक होते हैं। अतः समय के दबाव, स्थितियों, परिस्थितियों, सामाजिक घटनाओं के कारण कविता के स्वरूप और उसके भाषा शिल्प में बदलाव होता रहा है।

कविता मानव-मन और हृदय को तृप्त करती है। मनुष्य को, उसकी वेदना भरे मन को साहस देती है। मानव हृदय को प्रेम के रस से सिंचित करती है। कविता का होना भाव का होना है। भाव का होना सरस मन का होना है। स्वयं आचार्य रामचन्द्र शुक्ल अपने निबन्ध 'कविता क्या है?' में यह स्वीकार करते हैं कि – 'कविता मनुष्य के हृदय को स्वार्थ-सम्बन्धों के संकुचित मंडल से ऊपर उठाकर लोक सामान्य की भाव-भूमि पर ले जाती है, जहां जगत की नाना गतियों के मार्मिक स्वरूप का साक्षात्कार और शुद्ध अनुभूतियों का संचार होता है। उस भूमि पर पहुंचे हुए मनुष्य को कुछ काल के लिए अपना पता नहीं रहता। वह अपनी सत्ता को लोकसत्ता में लौन किए रहता है। उसकी अनुभूति होती है या हो सकती है।.....'

कविता का जब साधारणीकरण होता है तो पाठक या श्रोता संप्रेषित काव्य रस में कुछ समय के लिए ही सही अपनी चेतन अवस्था को छोड़कर काव्य मय हो जाते हैं। ऐसा सरस संप्रेषण केवल कविता में ही संभव हो सकता है। जैसे- जैसे मनुष्य अपने जीवन शैली को व्यस्तता की ओर बढ़ाता रहा, वैसे-वैसे कविता उसके भावों में ढलती हुई उसके भावों का उद्गार बनती गई। साहित्य में कविता के कई पड़ाव हैं, यहाँ ठहरकर कविता स्वयं को मुखरित करती है। वैसे तो कवि और कविता की यात्रा आदि से अनन्त तक चलती रहने में सक्षम है। फिर भी कुछ विशेष काल खण्डों में कविता व्यापक स्तर में मुखरित होती है।

मोटे तौर पर भारतेंदु युग से अगर कविता की बात शुरू की जाय तो यहां तक के सफर को तय करने से पहले तक कविता अपने क्षेत्रिय बोलियों और भाषाओं में गढ़ी जाती रही है। अपने युगीन परिस्थितियों से जुड़ती हुई कविता की यात्रा बढ़ती रहती है। भारतेंदु युग में कविता पर ब्रजभाषा का प्रभाव बना रहा। यहां यह ध्यान रखना होगा कि भारतेंदु युग

अनुशीलन

में कविता में स्वयं को रीतिकालीन काव्य की विशेषताओं से मुक्त करने की शुरुआत होने लगती है। प्रतापनारायण मिश्र की लावनी, आल्हा, कजरी तथा भारतेन्दु की पहेलियाँ, मुकरियाँ इस बात को स्पष्ट करती हैं। इस युग की कविता इसलिए भी बहुत महत्वपूर्ण बनती है, क्योंकि यही वह समय था जब कविता एक ओर रीति सम्पन्न सामंती, दरबारी प्रवृत्ति से स्वयं से अलगाती है। तो दूसरी ओर साम्राज्यवादी ब्रिटिश कूटनीतियों के खिलाफ खड़ी होकर कठोर व्यंग्यों से तत्कालीन भ्रष्ट व्यवस्था पर प्रहार करती है।

द्विवेदी युग के आते-आते कविता में आधुनिक चेतना के साथ राष्ट्रीयवादी चेतना का विस्तार होने लगा। हिन्दी साहित्य में आधुनिक कविता की शुरुआत खड़ी बोली से होती है। इस परम्परा में मैथलीशरण गुप्त का नाम सर्वप्रथम लिया जा सकता है। इनकी कविता ब्रजभाषा के मोह से निकलकर खड़ीबोली में कविता कहने, लिखने के लिए प्रेरित करती है। रामविलास शर्मा अपनी पुस्तक 'महावीर प्रसाद द्विवेदी और हिन्दी नवजागरण' में कहते हैं – 'जो नवजागरण 1857 के स्वाधीनता संग्राम से आरम्भ हुआ, वह भारतेन्दु युग में और भी व्यापक बना, उसकी साम्राज्य-विरोधी, सामंत-विरोधी प्रवृत्तियाँ द्विवेदी युग में और भी पुष्ट हुई।

कविता समय-समय पर अपने स्वरूप को बदलती रही है इस क्रम में छायावाद, प्रगतिवाद, प्रयोगवाद, नई कविता, अकविता, साठोत्तरी कविता, भूखी कविता, विद्रोही कविता, शमशानी कविता और फिर नवगीत के रूप में कविता विकसित होती हुई कवि-मन से बाहर निकलती है। समकालीन कविता भक्ति से अध्यात्म, ब्रजभाषा से खड़ीबोली, राष्ट्रीयता से वैचारिकता, सहजता से सचेतनता के बहुस्तरीय रूपांतरण के साथ आगे बढ़ती है।

जहां साहित्य मनुष्य को मनुष्य बनाता है वहीं कविता मनुष्य को भावों से जोड़ती है। ऐसे में कविता का स्वरूप गीत काव्य हो, गजल हो या फिर पद के अन्य रूपों में व्यक्त कविता का भाव हो। सबकुछ महत्वपूर्ण बन जाता है। मन की पहली अभिव्यक्ति कविता है चाहे उसका रूप सूक्ष्म हो या विस्तृत यह देखना जरूरी नहीं। कविता तो सिर्फ कविता होती है। कविता ही व्ययबद्ध

होकर काव्य गीत और संगीत का रूप लेती है और मानव-मन को झंकृत कर उसमें नवीन ऊर्जा का संचार करती है। अतः जीवन का आधार और संबल बनकर कविता विविध विषयों को उजागर करती है। कभी कविता जीवन मूल्यों को नकारती, मूल्यहीनता, वैचारिक दिशा हीनता को दिखाती है तो कभी मानवीय संवेदना की मार्मिकता जीवने के संघर्षों में व्याप्त यथार्थ को चित्रित करने वाली मशाल बनकर सबका पथ प्रशस्त करती है।

समकालीन कविता में घूमिल की-संसद से सड़क तक, कल सुनना मुझे, सुदामा पांडे का प्रजातंत्र। नागार्जुन की युगधारा, प्यासी पथराई आँखें, खिचड़ी-विप्लव देखा हमने में संकलित कविताएँ। मक्तिबोध की कविता-अंधेरे में, ब्रह्मराक्षस। भवानी प्रसाद मिश्र की कविता-गीतफरोश, बनी हुई रस्सी, अंधेरी कविताएँ। रघुवीर सहाय की-सौदियों पर धूप में, आत्महत्या के विरुद्ध, हँसो-हँसो जल्दी हँसो। गिरिजाकुमार माथुर की- मंजीर, धूप के धान, शिलापंख चमकीले। नरेश मेहता की वनपाखी सुनो, संशय की रात। विजयदेव नारायण साही की कविताएँ। कुंवरनारायण की-चक्रव्यूह, आत्मजयी इत्यादि कविताएँ एक पैमाना तैयार करती हैं जिसके आधार पर यह तय करना आसान हो जाता है कि कविता की भूमिका मानव समाज में कितनी बड़ी है। नामवर सिंह ने 'कविता के नये प्रतिमान' में कविता के आधुनिक स्वरूप को स्पष्ट करते हुए माना है कि – 'नयी कविता से आशय प्रगति और प्रयोग दोनों के कल्पित कगारों को तोड़ती हुई नयी काव्य-धारा से है।'

इसी परम्परा में निराला के मुक्त छंद के विधान से लेकर, छंद, तुक, लय आधुनिक बिम्ब, भाव-विस्तार को कविता में अपने अनुरूप ढाल लेने की प्रक्रिया आज की कविताओं की विशेषता बनती है। बहुस्तरीय वैविध्य को एक साथ लेकर चलने का दायित्व बोध आधुनिक और समकालीन कविता को विशेष बनाती हैं। कविता में व्यक्त संघर्ष, मनुष्य का संघर्ष है। उस मनुष्य का संघर्ष जो हर स्थिति में अपनी जिम्मेदारी पूरी करता है। कहा जा सकता है कि जीवन को आधार सूत्र में बांधे रहने का काम कविता करती है। कविता में मनुष्य वह सबकुछ कह, सुन और समझ सकता है जो मनुष्य के मन में व्याप्त होता है। कवि केवल भावों को शब्दों में बांधकर

अनुशीलन

कविता में पिरोता है। ऐसे में अरुण कमल की कविता 'अपनी केवल धार' की पंक्तियां याद आती हैं—

अपना क्या है, इस जीवन में,
सबकुछ लिया उधार।
सारा लोहा उन लोगों का,
अपनी केवल धार?

इसकी बेबाकी से अपनी बात को कह देने का साहस एक कवि ही कर सकता है। कहना गलत न होगा कि समकालीन कविता में आजादी के बाद का मोहभंग, मानवीय अधिकारों का हनन, आक्रोश, सत्ता विद्रोह का स्वर व्याप्त दिखाई देता है। आगे चलकर कविता पर भूमण्डलीकरण, उदारीकरण, पूँजीवाद, बाजारवाद, साम्प्रदायिकता इत्यादि का प्रभाव भी पड़ता है जिसके कारण कविता जनतंत्र की आवाज बनती है। बदलती मानसिकता ने कविता में उन सभी विषयों को समाहित करना शुरू किया जिन्हें अब तक कविता के क्षेत्र से बाहर रखा गया था फिर अनदेखा किया गया। इस संदर्भ में कुंवरनारायण, केदारनाथ सिंह, चन्द्रकान्त देवताले, अशोक-वाजपेयी, विनोद कुमार शुक्ल, विष्णु खरे विजेन्द्र, नरेश सक्सेना, भगवत रावत, ज्ञानेन्द्र पति, आलोक धन्वा, ध्रुवदेव मिश्र पाषाण, वीरेन डंगवाल, अरुण कमल, राजेश जोशी, लीलाधर जगुड़ी, मंगलेश डबराल, उदय प्रकाश, असद जैदी, कुमार अम्बुज, देवी प्रसाद मिश्र, एकान्त श्रीवास्तव, अष्टभुजा शुक्ल, प्रेमरंजन, जीतेन्द्र श्रीवास्तव, श्रीप्रकाश शुक्ल, पंकज चतुर्वेदी, हरेप्रकाश

उपाध्याय, बसंत त्रिपाठी, राकेश रंजन, विनय सौरभ, अशोक कुमार पाण्डेय, अरुणाभ सौरभ इत्यादि कवियों की भूमिका महत्वपूर्ण रही है।

कविता की उपविधा-गीत और गजल माध्यम से श्रीराम सिंह, रमेश रजक और दुष्यन्त कुमार ने मानवीय मूल्यों और मनुष्य के मन की आवाज को मुखरित किया है। कोई भी कविता अपने समाज से खूबसूरत होकर ही प्रासंगिक बने रहने में सक्षम होती है। 'मुक्तिबोध' के शब्दों में —

नहीं होती, कहीं भी खतम कविता, नहीं होती।

कि वह आवेग त्वरित कालयात्री है।⁽⁵⁾

आज कविता का विस्तार व्यापक हो रहा है ऐसे में स्त्री, दलित, आदिवासी, आधुनिकता के अति बोझ से दबे जीवन का संघर्ष, कुंठा, निराशा, ऊब, नीरसता सब कुछ कविता के केंद्र में हैं। कविता का रचना संसार बहुत बड़ा है, इसका एक मुख्य कारण इसका अपने समाज से गहराई तक जुड़े रहना भी है। आज की कविता अपने समाज के बाहरी-भीतरी बदलाव एवं मानवीय संवेदना के साथ सत्य को, यथार्थ स्थितियों को निडरता से व्यक्त करती है। कविता में व्याप्त व्यापक संवेदना ही कविता को दीर्घायु और जीवंत बनाती है। अतः कविता की दुनिया में आज जरूरत है बार-बार काव्य मंचन करने की। उम्मीद है कि इस मंचन से निकला अमृत मनुष्य को मनुष्य बने रहने देने में अपनी बड़ी भूमिका निभा सके।

संपर्क : दिव्या प्रसाद, प्रवक्ता, हिन्दी विभाग, सुरेन्द्रनाथ सांध्य कॉलेज

मो० 9239052889

जमीन, जायदाद, झगड़ा, फसाद, हत्या आदि के विवाद तो प्रायः न्यायालय का द्वार खटखटाते ही रहे हैं और आजकल अन्य अनेक प्रकार के विवाद भी अदालतों में जाने लगे हैं, पर आज से करीब नब्बे वर्ष पूर्व एक साहित्यिक विवाद पर न्यायालय जाने की धमकी का अपना ही रोचक प्रकरण है। यह विवाद महेश प्रसाद मिश्र रसिकेश और निराला के बीच छायावाद के सम्बन्ध में हुआ था, जिसमें मिश्र जी ने निराला को क्षमा माँगने के लिए कहा अन्यथा वह उन पर दीवानी और फौजदारी का मुकदमा दायर करते।

ऐसे साहित्यिक विवाद का यह पहला प्रकरण नहीं था। एक दो उदाहरण लें। महावीर प्रसाद द्विवेदी ने बहुत से कागज सीलबंद करके काशी नागरी प्रचारिणी सभा को देकर कहा था कि उन्हें उनकी मृत्यु के बाद खोला जाये। उनकी मृत्यु के बाद आचार्य किशोरी दास वाजपेयी जी ने सभा को पत्र लिखकर उन्हें खोलने का अनुरोध किया। सभा ने कोई कार्यवाही नहीं की, तब आन्दोलन हुआ। ज्योति प्रसाद मिश्र, निर्मल ठाकुर, श्रीनाथ सिंह और बाबू गुलाबराय ने वाजपेयी जी को झूठा कहा और सभा को निर्दोष बताया। मराल में जब इस प्रकरण पर उनके खिलाफ लिखा गया तो निर्मल और ठाकुर श्रीनाथ सिंह ने वाजपेयी के विरुद्ध कानूनी नोटिस दिया— या तो क्षमा माँगे या अदालत की कार्यवाही के लिए तैयार रहें। अपने सच पर अडिग वाजपेयी जी ने अदालत जाने का स्वागत किया, पर गया कोई नहीं। बाद में सभा को वाजपेयी जी द्वारा कानूनी नोटिस दिये जाने पर सभा ने स्वीकार किया कि द्विवेदी जी ने एक हजार से अधिक पत्र सभा को सौंपे थे, उन्हें कोई भी देख सकता है। वे प्रकाशित भी किये जायेंगे परन्तु क्या प्रकाशित हुए?

आचार्य वाजपेयी का ही एक और प्रकरण है। रामचंद्र वर्मा ने हिन्दी व्याकरण पर “अच्छी हिन्दी” नामक पुस्तक लिखी थी। वर्मा जी अपने नाम में वर्मा लिखते थे। आचार्य वाजपेयी भाषा व्याकरण के मर्मज्ञ थे उन्होंने वर्मा जी की पुस्तक की आलोचना की। वह ‘माधुरी’ में प्रकाशित हुई। इस पर वाजपेयी जी को अदालत की धमकी दी गयी, पर कुछ नहीं हुआ,

...और अब छायावाद अदालत में! अनुभूति और अभिव्यक्ति की नवीनता से प्रेरित छायावाद का व्यापक सत्कार हुआ, परन्तु आलोचना के निर्मम प्रहार भी कम नहीं झेलने पड़े। उस समय कवियों और आलोचकों का एक ऐसा वर्ग भी था जो काव्य के परम्परागत प्रतिमानों से जुड़ा था। वहाँ रस, भाव, अलंकार आदि का महत्व था। इतिवृत्त और वस्तुगत कविता का विषय निर्धारित करते थे। तब यह स्वाभाविक था कि स्थूल के प्रति सूक्ष्म का विद्रोह वाली इस कविता को हेय माना जाए। कविता की मुक्ति की अवधारणा तो इन पम्परावादी कवियों के लिए अन्य लोक से आया एक निरर्थक चमत्कार था। जून 1921 की ‘सरस्वती’ में सुशील कुमार ने छायावाद पर व्यंग्यात्मक लेख लिखा। महावीर प्रसाद

विमर्श

द्विवेदी ने मई 1927 की सरस्वती में छायावाद के तात्पर्य पर व्यंग्य किया, कुछ लोगों ने छद्म नाम से लेख लिखे।

महेश प्रसाद मिश्र 'रसिकेश' ने सुकवि पत्रिका में 'हिन्दी कविता में छायावाद' शीर्षक से धारावाहिक लेख लिखा। इस लेख में छायावाद का उपहास करते हुए मिश्र जी ने छन्द के बन्धनों को तोड़कर मुक्त छन्द का प्रयोग करने वाले कवियों को कवि ही नहीं माना। उनके अनुसार पिंगल से गला छुड़ाना सच्चे कवि का काम नहीं है। जिन्हें अंगूर खट्टे हों उनकी बात ही न्यायी है।

'रसिकेश जी एक ओर अपनी काव्यगत धारणाओं से प्रतिबद्ध थे, दूसरी ओर उन्हें कलकटरी में मुख्तार होने का गर्व भी रहता था। इसलिए वह पंत, प्रसाद, निराला की ही आलोचना नहीं कर रहे थे। जो भी उनके दायरे में आ जाता वह उसी से दो-चार करने को तत्पर रहते थे। उन्होंने जुलाई 1933 के 'सुकवि' में लिखा कुछ दिन हुए श्री पं. भगवती प्रसाद वाजपेयी का एक नोट 'माधुरी' में देखा था। वे महाशय भाव में भाषा की कोई सत्ता ही नहीं मानते और मानने भी क्यों लगे जब वे छायावादी ठहरे। (महेश प्रसाद मिश्र 'रसिकेश' मुख्तार कलकटरी, गोरखपुर)

वह सबसे अधिक आक्रामक पंत और निराला की कविता पर थे, वैसे उन्होंने प्रसाद और सुमन जी में भी दोष निकाले। मिश्र जी को पंत की कविता में उत्खनन की अधिक संभावनाएँ दिखायी दी। वह पहले पंत की कविता उद्धृत करते हैं फिर उसका शवच्छेदन करते हैं-

यह कैसा जीवन का गान अलि कोमल कल मल टल मल
झर झर कर पत्रों के पास रण मण रोड़ों के सायास
रजत तार सी शुचि स्खि मान फिरती हो रंगिणी रल मल।
...निर्झरी, पंत

मिश्र जी लिखते हैं कि निर्झरी जैसे कोमल शीर्षक के लिए ऐसी भाषा नितान्त अनुपयुक्त है। 'कोमल' के साथ ही कल मल टलमल कितना भद्दा कितना श्रुति कटु एवं भयानक प्रतीत होता है। रण मण के रोड़ों से कविता कामिनी का शरीर इतना कूटा गया है कि वह कराह कराह यह कहती सी जान पड़ती है कि ये अजीब नजारा है कि बरोजे ईंदे कुर्बा वह जिबह भी करे हैं वही लें सवाब उल्टा उल्टा। (अगस्त, 1933)

इन्द्रजाल सा गूँथ रहा नव

किन पुष्पों का स्वर्ण पराग 'स्वप्न' पंत

सजनि अलस के मायावी शिशु

खेल रहे कैसा अभिनय 'स्वप्न' पंत

पराग का गूँथना, अभिनय का खेलना। बूँद छोटी तो स्त्रीलिंग, बड़ी तो पुल्लिंग। कम्पन हलकी तो स्त्रीलिंग, बड़ी तो पुल्लिंग। तो मोटी और विशालकाय स्त्री को पंत जी किस लिंग में रखेंगे। 'मरुदाकाश' को मरुताकाश?

मुख्तार मिश्र जी की दलीले याचिका कर्ता का पक्ष पुष्ट करती हैं, परन्तु व्याकरण के विरुद्ध जाने और नये भावों की नयी व्यंजना के लिए न्यायाधीश को भी समझ में नहीं आयेगा कि कौन सी धारा लगायें।

मिश्र जी कहते हैं कि यों तो पंत जी की तरह अनर्गल प्रलाप करने वाले (अपवाद स्वरूप) नरपुंगवों की कमी नहीं। बड़े बूढ़ों की पगड़ियाँ उछालना, उन पर ताने कसना, उनकी मर्यादा की धूल उड़ाना प्रसिद्धि का सुगम मार्ग हो चला है। जो हो मेरा विषय यहाँ व्यक्ति विशेष की आलोचना नहीं, प्रत्युत कला मीमांसा है। अस्तु अब मिश्र जी के सूक्ष्मदर्शी यंत्र में निराला की कविता आ गयी।

मैंने मैं शैली अपनाई देखा दुखी एक निज भाई।

दुख की छाया पड़ी हृदयमें मेरे टूट उमड़ वेदना आई ॥

... निराला

विमर्श

इस कविता में भी मिश्र जी ने अपने उपकरणों से आलोचना की। इसके लक्ष्य निराला ही थे। मिश्र जी ने शायद यह ध्यान नहीं रखा वह निराला से उलझ रहे हैं। मिश्र जी ने यह भी लिखा कि जिन्हें अंगूर खट्टे हो वह और बात है। निराला ने उत्तर में पत्र लिखा जो अक्टूबर 1933 के 'सुकवि' में प्रकाशित हुआ।

The Bhargava Majestic

Hotal Hewelt Road, Lucknow

03-11-33

आदरणीय सनेही जी,

छायावाद पर एक लेख सुकवि में देखा। ऐसे अंत संत लेख से आपके सुकवियों को कोई लाभ होगा, मेरे अनुमान से बाहर है। उत्तर के लिए मेरे पास समय कम है। पुनः गधा, घोड़ा नहीं बन सकता यह प्रसिद्धि आप भी जानते हैं। ऐसी हालत में लिखने से क्या फायदा होगा। मुक्त छन्द की मुक्ता का महत्व नराकार वानर महाशय क्या समझेंगे। उन्हें तो समावर्त केले ही प्रसन्न कर सकते हैं। हिन्दी कविता में छायावाद का उत्तर इससे अधिक नहीं लिख सकता। छापें न छापें आपकी इच्छा। ... सविनय, निराला

यहाँ पत्र में दिनांक 03:11.33 लिखी है लेकिन यह पत्र अक्टूबर 1933 में प्रकाशित हुआ तो क्या दिनांक में भूल हुई। रसिकेश जी ने अगले अंक में निराला की 'बादल' कविता में रस वैपरीत्य का आरोप लगाया और उसमें रस-परिहास दिखाया। शब्दावली की भीष्मता भाव एवं रस के बिल्कुल खिलाफ है। विरोधी रसों की निष्पत्ति से किसी का भी विकास नहीं हो पाया। प्रत्येक एक दूसरे का गला घोट रहे हैं। इसी के साथ

रसिकेश ने चेतावनी दी कि यदि निराला जी ने खुले शब्दों में क्षमायाचना नहीं की तो उनके विरुद्ध फौजदारी और दीवानी का मुकदमा दायर कर दिया जायेगा। मुकदमा तो मुख्तार या वकील की जित्वा पर रखा रहता है और उन्हें अपना सबसे बड़ा हथियार लगता है। निर्भीक निराला जी ने क्षमा याचना से इनकार कर दिया तब सनेही जी ने छायावाद का वितण्डावाद टिप्पणी से लिखा कि यदि दोनों ओर से लिखे पत्रों से संबंधित लोगों को संतोष न हुआ हो तो वह मामला साहित्यिकों की पंचायत को सौंप दिया जाये।

न क्षमा याचना हुई, न मुकदमा चला, पर अदालत तक जाने की धमकी दी गयी और वह भी एक साहित्यिक विवाद पर, यह विवाद दो भिन्न काव्य दृष्टियों का था। रसिकेश जी उन काव्यादशों के पक्ष धर थे जिनमें कविता में विषय प्रधानता, स्पष्ट भाव, रस के प्रति शास्त्रीय दृष्टि तथा छन्दों का परम्परागत रूप स्वीकार किया जाता था। निराला कविता के रूढ़ि। मुक्त स्वरूप के संवाहक थे। छायावादी जिस आत्मपरकता, प्रकृति की सजीवता, भाषा के अभिनव प्रयोग और चली आती हुई विषय परकता के विरोध की नयी छवि लेकर आया था। वह सब कुछ छाया छाया सी या छायावाद कविता अजीब पिसनारी है। जैसे विरोधों के बावजूद अपनी सार्थकता सिद्ध कर रहा था। रसिकेश जी ने अंगूर खट्टे हैं कहावत का प्रयोग कर निराला को मानवेतर जीव को संकेत दिया तो निराला के नराकार वानर और समावर्त केले पर वह रूष्ट हो गये और मुकदमे की धमकी देने लगे। साहित्य के प्रति समर्पण दोनों ओर था।

संपर्क : 70, हाथीखाना, दतिया, मध्य प्रदेश, 9479570896

ई-मेल : pandeykrishna896@gmail.com

मैनेजर पाण्डेय और जे.एन.यू. एक दूसरे के पर्याय बन गए थे। जे.एन.यू. का हिंदी विभाग अपने जिन तीन शिक्षकों के लिए पूरे देश में जाना जाता रहा है। उसकी अंतिम कड़ी थे-मैनेजर पाण्डेय।

वास्तव में मैनेजर पाण्डेय से मेरी पहली मुलाकात जे.एन.यू. में ही हुई थी। 30 जुलाई 2006 को पहली बार पूर्वा एक्सप्रेस पकड़कर दिल्ली पहुंचा। 31 को जे.एन.यू. फिर दाखिला के लिए दौड़-धूप करके अगस्त से कक्षा में उपस्थित। पहली बार मैनेजर पाण्डेय को जे.एन.यू. में देखा। इसके पहले कोलकाता में केदारनाथ सिंह और नामवर सिंह को देख चुका था, मिला भी था, लेकिन देखने की तरह, जिसमें बात होकर भी बात नहीं हुई थी। एक दिन दोपहर को चिलचिलाती धूप में, जे.एन.यू. के छाव में 12:00 से 1:00 के बीच फुलपैट-शर्ट और कांधे पर एक लाल रंग का शांतिनिकेतनी झोला टांगे और हाथ में पाइप पकड़े मैनेजर पाण्डेय स्कूल ऑफ लैंग्वेज की सीढ़ियां चढ़ते दिखें। पहली बार उनकी छोटी सी काया की माया को साक्षात् देखा। वे आराम से सामने से गुजर गए और मुझे फिर केदारनाथ सिंह की पंक्तियां याद आई-अगले दिन शहर में/फिर आ गया बाघ/इस बार दिन-दहाड़े/एक सुंदर आग की तरह लपलपाता हुआ बाघ/न कहीं डर न भय/सुंदर बाघ एक चलता-फिरता जादू था/ जिसने सबको बांध रखा था वह लगातार चल रहा था/और चूँकि वह चल रहा था/इसलिए सुंदर था/और क्योंकि वह सुंदर था इसलिए कहीं कोई डर था ना भय' आप बाघ की जगह मैनेजर पाण्डेय को पढ़ें तो आपको समझ में आएगा कि मैनेजर पाण्डेय का चलना फिरना किसी जादू से कम नहीं था।

उन दिनों जब-जब मैनेजर पाण्डेय जी को देखता था तो एकसाथ दो लोगों की याद आती थी। पहले मैनेजर पाण्डेय तो दूसरे केदारनाथ सिंह। दोनों से मेरा कुछ ज्यादा ही नजदीकी रिश्ता था। दोनों देखने में अलग जरूर थे पर दोनों की ऊंचाई लगभग उन्नीस-बीस ही थी। केदारनाथ जी को देखते हुए बार-बार उनकी 'बाघ कविता' याद आती थी या हाथ। लेकिन, मैनेजर पाण्डेय जी को देखते हुए बाघ ही दिखता था, खासकर जे.एन.यू. में उन्हें टहलते हुए देखने पर, उनसे पहली बार मिलने पर और उनकी आवाज सुनने पर जो सिहरन होती थी, वह कुछ-कुछ बाघ के माद में बाघ के सामने पड़ जानेवाले सिहरन की तरह ही होती थी।

तो मैनेजर पाण्डेय हमारे सामने चल-फिर रहे थे। चाय पी रहे थे। नाक सुड़क रहे थे। बीड़ी पीते हुए उन्हें मैंने कभी नहीं देखा और कल्पना करता कि यदि पाण्डेय जी कभी बीड़ी पीते तो बचपन में मेरे लाला चाचा की तरह उसके आनंद में खोए हुए ट्रांस की स्थिति में पहुंचे हुए, भक्ति काल के किसी गृहस्थ की तरह नहीं दिखते क्या! दिखते, जरूर दिखते। मेरा मन कहता है। लेकिन पता नहीं उन्होंने कभी बीड़ी भी पिया था या नहीं? हां, मेरे लाला चाचा की दाढ़ी थी। सफेद कच्ची-पक्की पर मैनेजर पाण्डेय क्लीन शेव रहते थे। हां, लाला चाचा की खलवाट पाण्डेय जी की तरह ही थी।

तो जब मैनेजर पाण्डेय को पहली बार देखा तो उनका जादू सिर्फ मुझे दिखा। स्कूल ऑफ लैंग्वेज (एस एल) की सीढ़ियां चढ़ते हुए। किसी अन्य छात्र अध्यापक पर नहीं। यह जादू मुझे अंदर तक अच्छा लगा। अभी तक जिनका नाम पत्र-पत्रिकाओं में देखता था। आज वह मेरे सामने से गुजर रहे हैं। मैं पूरे दिन रोमांचित रहा। यह रोमांच फिर दो दिन बाद लाईब्रेरी में दिखा। वे किसी पत्रिका को उलट-पुलट रहे थे। पता नहीं क्यों, शायद उन दिनों 'बाघ' का जादू मेरे सर था या जे.एन.यू. के या क्या...मैं नहीं जानता। पर कुछ तो था कि उन दिनों मैनेजर पाण्डेय और बाघ एक-दूसरे के पर्याय हो गए थे, मेरे मन में। मैं डर के मारे किसी से यह बात तब शेर नहीं कर पाता था। उन दिनों जे.एन.यू.

का परिवेश बाघ कविता के परिवेश में तब्दील दिखता था और मैनेजर पाण्डेय एक बाघ में। एक जिंदा बाघ में। बहुत बाद में मेरे अंदर से भ्रम की यह टाटी उड़ी, जब मैनेजर पाण्डेय के ज्ञान की आंधी आयी तब। इस आंधी के आने का भी एक किस्सा है। मुझे हॉस्टल नहीं मिला था। मैं टी आर (थर्ड रूममेट) था, निहाल अहमद सर का। निहाल अहमद दादा एक शाम चाय पीते हुए पूछे - पाण्डेय सर तुम लोगों को पढ़ाते हैं कि नहीं? मैंने कहा - नहीं, वह हमारी क्लास नहीं लेते। उन्होंने पूछा- क्यों? मुझे नहीं पता दादा। निहाल सर ने मुझे एक सुझाव दिया-ऐसा करो, तुम कुछ अपने दोस्तों को लेकर उनके कमरे में उनसे मिलने जाओ। दोस्त मतलब क्लासमेट। तुमलोग सर से रिक्वेस्ट करना कि सर हम लोग एम.ए. के छात्र हैं। हम लोग आपसे पढ़ना चाहते हैं। आप कुछ क्लास ले लीजिए। अच्छे से कहना- प्रार्थना के शिल्प में। याचना के शिल्प में नहीं। मुझे तो बिन मांगे मुराद मिल गई। अंधे को क्या चाहिए - दो आंखें, जिससे वह अपने पोते को सोने की कटोरी में चांदी के चम्मच से दूध-भात खाते हुए देख सके। (उसकी भी एक कहानी है, फिर कभी) तो निहाल सर से मिले इस ज्ञान के दीप को लेकर मैं पहंचा उमाशंकर मिश्रा, शिप्रा किरण, गणेश कुमार और संदीप रंजन के पास की यारों, वास्को-डि-गामा को भारत मिल गया है। अब धावा बोलना है। रात को बात हुई दूसरे दिन दोपहर में हम लोग मैनेजर पांडे सर के चेंबर में थे।

सर का चेंबर भारतीय भाषा केंद्र (हिंदी विभाग) से थोड़ा सा आगे बढ़कर दाहिने तरफ था। चमन लाल जी के कमरे के आसपास। हम चारों लोग अंदर पहुँच गए। 'दिल में एक लहर सी उठी है अभी' मेरे अंदर चल रहा था। गर्मियों का दिन था और दूर-दूर तक कहीं ताजा हवा नहीं चल रही थी। पांडे जी से अंदर ही अंदर हम लोग डर भी रहे थे पर हिम्मती कम नहीं थे हम लोग। सर ने पूछा -क्या है जी?

डरते-डरते हम लोगों ने अपनी इच्छा जताई कि - सर, हम लोग चाहते हैं कि आप इस सत्र में हम लोगों की कुछ कक्षाएं ले।

-मैंने कक्षाएं लेनी बंद कर दी है।

-सर कुछ भी पढ़ा देते। जीभ, तालु से चिपक रही थी पर बोल दिया हिम्मत करके मैंने।

-देखो ऐसा है, इस साल मेरा रिटायरमेंट है तो पिछले सत्र से ही मैंने कक्षा लेनी बंद कर दी है। कुछ काम है जिन्हें निपटाने के लिए यहां आता हूं।

उमा ने कहा - सर सूरदास के कुछ पद पढ़ा देते तो...

पाण्डेय जी ने रोका -देखो ऐसा है कि अभी हेड पुर्खोत्तम है। उसको कह कर मैंने..

तभी हम लोगों में से किसी ने कहा, सर, हमलोग अग्रवाल सर से बात कर लेंगे।

-तो ठीक है जी। एक काम करो। सुबह की पहली क्लास कौन लेता है। तुम लोगों का?

-सर, अग्रवाल सर कबीर पढ़ाते हैं। - ठीक है। उससे कह दो मैं सोमवार से पहली क्लास लूंगा। सूरदास पढ़ा दूंगा।

अब गजल की दूसरी पंक्ति से हमारा साबका पड़ा। कोई ताजा हवा चली है अभी। हम चार-पांच लोग उस चेम्बर से ऐसे बाहर निकले जैसे कोई बहुत बड़ी उपलब्धि हमारे हाथ लग गई हो। जो चेहरे पसीने-पसीने हो गए थे। वहीं ताजे पानी से धुले-धुले लग रहे थे। कह नहीं सकता उस दिन हमलोग कितने खुश थे! उस साल की वह सबसे बड़ी खुशी थी। जे.एन.यू. में एडमिशन लेने से भी ज्यादा बड़ी। मुझे तो ऐसा ही लग रहा था, मित्रों को भी।

खुशी संक्रामक होती है। वह सच्चे अर्थों में खुशी है तो पक्का संक्रामक होगी। यह खुशी भी ऐसे ही थी। पूरे कैंपस में हल्ला हो गया कि मैनेजर पाण्डेय सोमवार से हमलोगों की पहली कक्षा लेंगे। रास्ते में हमारे सीनियर रोककर चाय-समोसा खिलाते हुए आश्चर्य के साथ पूछते- क्या यह सच है कि पांडे सर आपलोगों को सूरदास पढ़ायेंगे। हां सर, सोमवार से। गजब है भाई आपलोग। बहुत अच्छा। हम खुश हैं, पूरा जे.एन.यू. खुश था। पूरा जग, जे.एन.यू. खुश तो हम खुश। दरअसल पूरे जे.एन.यू. की खुशी का राज सोमवार को पता चला, जब कक्षा में हमलोग पहुंचे तो। क्लास में पैर रखने की जगह नहीं। तृतीय सत्र के हमारे सीनियर जेनुआइट, एम.फिल. और पी.एच.डी. के शोध छात्रों से कक्षा भर गया था। दरअसल पिछले सत्र के छात्रों एवं जो एम.फिल., पी.एच.डी. करने आए थे; वे सभी पाण्डेय सर की क्लास करना चाहते थे। पाण्डेय सर के चाहने वाले चाहे जितने रहे हो उनकी लोकप्रियता उस दिन अपनी इन्हीं आंखों से हमने देखी थी। क्लास गमगम कर रहा था। सर पूरी तन्मयता से पौने दो घंटे बोलते रहे। उनके पढ़ाने के ढंग पर मैं कोई बात नहीं करूंगा। उस पर काफी लिखा जा चुका है। बस, उस दिन सूरदास को हमलोग सुनते, पढ़ते, गुनते रहे। पूरा क्लास मन-मगन होकर सूरदास को समझता रहा।

एक दिन सर क्लास में सूरदास के दो पद पढ़ाने के बाद बोले-अब आज इतना ही, अगली क्लास अगले सप्ताह। क्लास में किसी ने कहा - सर और एक पद पढ़ा देते तो...। देखो जी, एक थाली चावल, दाल, आलू की सब्जी खाने से बेहतर है; दो सेब खाना। पेट भरने से ज्यादा जरूरी होता है पौष्टिक पोषण वाला आहार लेना। समझे। अब बैठ जाओ। कितनी गूढ़ बात उन्होंने कह दी थी उस दिन। आजकल मैं भी अपनी कक्षा में यह कहानी दोहराता हूं। शायद इसी तरह एक

संस्मृति

गुरु अपने छात्रों में रह जाता है। यही ज्ञान की लोक परम्परा है जिसे एक प्राध्यापक अपने छात्रों को दे जाता है।

हमलोग मैनेजर पाण्डेय के सामने क्लासरूम में बैठे थे। बैठे ही नहीं थे, उनसे मुखातिब भी थे। ज्ञान का या ज्ञानी का आतंक हम पर हावी नहीं हुआ। वह एक सहज-स्निग्ध सी दुपहर थी जिसमें हमलोग मैनेजर पांडे से पढ़ रहे थे। रोमांच हमारी नसों में दौड़ रहा था। हमलोग मंत्र-मुग्ध हो उस पल को जी रहे थे।

बात उसी साल की है। एक दिन दोपहर में उनके चेबर में बैठा हुआ था, कुछ पूछने के लिए कि तभी एक सज्जन आये। बैठने के बाद बतलाने लगे- काफी समय और श्रम लगाकर यह मोटी सी शोध परक पुस्तक लिखी है। सर को देने आए है। वैसे उसकी कुछ प्रतियां किसी मार्केट में बिकने के लिए रखी हुई थी। वे कुछ देर रहे। चाय पिया। सर को किताब अर्पित की। कुछ समय के बाद सर खीझकर बोले और कुछ कहिएगा। वे हड़बड़ाते हुए बोले - नहीं सर, बस मिल लिया। आपके दर्शन हो गए और कुछ नहीं चाहिए। वे स्खसत हुए। सर के कमरे में एक टेबल थी, थोड़ी दूरी पर। उस पर कुछ ऐसी किताबें- पत्रिकाएं रखी रहती थी जिनके लिए सर छात्रों को कहते थे- देखो तुम्हारे काम का उसमें कुछ हो तो ले जाओ। अर्थात् ऐसी किताबें जो उनके किसी काम की नहीं होती थी। सर ने उस मोटी सी पुस्तक को उलट-पुलट कर देखा और उसी टेबल पर रख दिया। मैंने जिज्ञासा बस पूछ लिया- सर, वे भी बतला रहे थे कि तीन साल मेहनत करके उन्होंने यह किताब लिखी है और यह काफी मोटी भी है। छपाई वगैरा भी ठीक है। मुझे किताब देखकर और उन सज्जन की बातों को सुनकर जो समझ में आया, उसमें और कुछ जोड़कर युवा उत्साह में पड़कर अला-बला बकने लगा। कुछ ज्यादा ही उत्साहित हो गया था। सर ने मुझे धीरे से सुना फिर खीझकर कहा - मेहनत तो गधा भी बहुत करता है तो? क्या वह घोड़ा हो जाता है? मैं चुप! एक चुप हजार चुप। तभी अभिषेक सर कमरे में आये।

अभिषेक रौशन जी, मैनेजर पाण्डेय के उन दिनों के प्रिय शोध छात्र हुआ करते थे। पतले-दुबले और खूब यारबाश। खाने-पीने के शौकीन और हम नए रंगस्टों को ज्ञान की आंधी से नहलाने में सक्षम। वे मैनेजर पाण्डेय की मिमिक्री शानदार करते थे। उन्होंने हमें बतलाया कि मैनेजर पाण्डेय क्या चीज है। मैनेजर पाण्डेय के कुछ शोधछात्रों ने भी उनको नए छात्रों के बीच लोकप्रिय बनाया। लेकिन सबसे बड़ी बात यह थी कि यदि खुद मैनेजर पाण्डेय जब पढ़ाते या कुछ समझाते तो वह इतने सहज होते और इतनी सहजता से समझाते कि बच्चों में

उनकी लोकप्रियता और बढ़ जाती। लोक में प्रचारित हुआ पूर्वाग्रह वर्तमान को भविष्यगामी बनाता। वर्तमान की थोड़ी सी भी अर्थवत्ता भविष्यगामी होने से किसी को रोक नहीं सकती। इसलिए वे सफलता को कम महत्वपूर्ण और सार्थकता को ज्यादा महत्वपूर्ण मानते थे। सफलता व्यक्तिगत होती है, सार्थकता सामूहिक। ऐसा वे मानते ही नहीं, करने में भी यकीन करते थे।

शोधछात्रों का चयन दो तरीकों से होता है। शोधार्थी शोध निर्देशक का चयन करें या निर्देशक शोधार्थी का। अच्छे काम तो शोधार्थी को ही करना होता है। उसकी मेहनत होती है। हाँ, गुरु रास्ते के संकटों से उसे अवगत कराता है, क्योंकि वह भी इसी रास्ते आया होता है। मैनेजर पाण्डेय को अच्छे शोधार्थी मिले। साथ ही जे.एन.यू. जैसी संस्था मिली। संस्थाओं का भी योगदान आपके निर्मित में होती है। इससे आप इनकार नहीं कर सकते। मैनेजर पाण्डेय ने भी हमेशा जे.एन.यू. को अपने निर्माण में एक घटक के रूप में देखा। जे.एन.यू. जैसा समाज हो, यह सपना जे.एन.यू. में रहनेवाला हर व्यक्ति देखता है। इसलिए जो जे.एन.यू. से निकलता है वो अमेरिका जाता है या मुनिरिका जाता है। सर भी रिटायरमेंट के बाद कुछ दिन जे.एन.यू. से दूर रहे पर जल्द ही उस फ्लैट को छोड़कर मुनिरिका आ गए। यह जे.एन.यू. से नजदीक था।

2009 में एक पारिवारिक हादसे की वजह से मैं घर ज्यादा आने लगा और पाण्डेय सर से भी मुलाकाते कम होने लगी। जे.एन.यू. से रिटायरमेंट के बाद वे कैम्पस के बाहर रहने लगे थे। मुलाकातें कम पर बराबर होती रहती थी। उनके मुनिरिका के कमरे में बराबर जाता रहता था। कई मुलाकातें बड़ी आत्मीय मुलाकातें हैं। उन मुलाकातों पर बाद में एक कविता भी मैंने लिखी थी- 'पाण्डेय सर की क्लास को याद करते हुए'।

एक बार एक निजी क्राइसिस में पड़ने पर उन्होंने मुझे महेंद्र कपूर के गाए गीत के एक टुकड़े को - 'तारुण्य रोग हो जाए तो उसको भूलना बेहतर/ ताल्लुक बोझ बन जाए तो उसको तोड़ना अच्छा / वो अफसाना जिसे अंजाम तक लाना न हो मुमकिन / उसे एक खूबसूरत मोड़ देकर छोड़ना अच्छा'। सुनाते हुए कहा कि मैंने उसे भी यही गीत सुनाया। यही सलाह दी कि 'चलो एक बार फिर से अजनबी बन जाए हम दोनों' अब तुम दोनों को यही करना चाहिए।

सर को गीत गाते हुए तो क्या गुनगुनाते हुए भी कभी नहीं देखा था। उस दिन, मैंने पहली और आखरी बार देखा। वह दिन इन नैनो में बस गए हैं। अब तो उस दिन कि स्मृतियां हैं। और भी कई दिनों कि स्मृतियां हैं। स्मृतियां ही स्मृतियां हैं। सर इन स्मृतियों में हैं। रहेंगे। उनकी किताबों पर फिर कभी...

संपर्क : डॉ. बिजय कुमार साव, असिस्टेंट प्रोफेसर, हिन्दी विभाग, काजी नजरूल यूनिवर्सिटी, असनसोल 713340, मो० 8250412914

पण्डितों का चार सदस्यीय दल आज से महामृत्युंजय जाप के लिये बैठ रहा है। डॉक्टर साहब को आसन्न मृत्यु से बचाने के लिये सन्ध्या नानाविध जतन कर रही है। डॉक्टर साहब अंतिम मियाद की कठिनाई, अफसोस, भय और दर्द से गुजर रहे हैं लेकिन जाप जैसे जतन को बेवकूफी मानते हैं।

“सन्ध्या, मेरे लिए तुम भगवान को बहुत कष्ट दे रही हो। मुझे पूजा-पाठ, मंत्र-जाप, झाड़-फूँक में विश्वास नहीं है।”

“मुझे है।”

डॉक्टर साहब ने पत्नी का मुख देखा। आग्रह, अनुग्रह, याचना, भय, संत्रास, छटपटाहट बहुत भाव हैं मुख पर। भावविहीन चेहरे में कुछ मानवीय भाव देखने के लिये शायद एक एक्स्ट्रीम स्थिति जरूरी होती है। तभी तो उनके स्वास्थ्य और स्वाद की फिक्र न करने वाली सन्ध्या उनके जीवन की मियाद को बढ़ाने के लिये इतने उपक्रम कर रही है। अभी एक दिन उन्हें तावीज बाँधवाने के लिए अखाड़घाट ले गई थी। अभी एक दिन घर में काम करने वाला कोदौराम झाड़-फूँक करने वाले एक डरावने व्यक्ति को घर ले आया था। उसने उनकी पीठ पर काँसे की थाली रख, नींबू की दो फाँक कर कुछ मंत्र बुदबुदाये थे। अभी एक दिन सन्ध्या शरणागत जैसे भाव में राम रक्षा स्त्रोत का ग्यारह बार पाठ कर रही थी। अभी एक दिन। और अब अंतिम अरज के तौर पर महामृत्युंजय का जाप। लेकिन वे अपनी भूमिका को क्या कहें? चिकित्सक हैं इसलिए और स्वभावतः भी उन्हें इन उपक्रमों में विश्वास नहीं है लेकिन विरोध की खानापूर्ति कर सन्ध्या को वह सब करने दे रहे हैं जो वह करना चाहती है। जीवन भर का लेखा-जोखा निकृष्ट रहा हो पर अंतिम दिनों में की गई सेवा व्यक्ति को जिस आदर्श जगह पर ले आती है, सन्ध्या को वे उस जगह पर आने का अवसर देना चाहते हैं। उसने उनके स्वास्थ्य और स्वाद की फिक्र नहीं की इस पछतावे में नहीं छोड़ जाना चाहते।

कोदौराम कमरे में तीसरी बार झाँक गया।

“पंडितजी, साहब को बुला रहे हैं।”

उन्होंने तत्काल कहा “पूजा में तुम बैठ जाओ सन्ध्या।”

“जाप तुम्हारे लिए है। संकल्प तुम्हें करना है। संकल्प लेकर उठ जाना। पंडित मंत्र जाप करते रहेंगे।”

वे शिथिल बल्कि विरक्त भाव में आसन पर बैठ गये। हाथ में कुश और मुद्रा। उनकी अस्वस्थता को देखते हुये पंडितों ने संकल्प की क्रिया विधि मशीनी तेजी से पूरी कर दी -

“अब आप उठ सकते हैं साहब।”

उन्हें सम्बल दे सन्ध्या कमरे में ले आई। उन्हें खुद पर करूणा हुई। राज्य सरकार और रेड क्रॉस संस्था से पुरस्कृत, प्रतिष्ठित गेस्ट्रो एन्ट्रोलाजर डॉ० राम कन्हाई शुक्ल किस तरह एक कमरे बल्कि बिस्तर तक सिमट-सिकुड़ गये हैं। बिस्तर की चादर ठीक करते हुये सन्ध्या कहने लगी-

कहानी

“कहो तो आनंद मोहन को बुला लूँ।”

“अमेरिका से बार-बार आना इतना आसान नहीं है सन्ध्या। छः महीने पहले ही आया था। मैं जानता हूँ डॉक्टर की व्यस्तता क्या होती है। मोबाइल पर बात करता रहता है।”

“चाहता तो यहाँ सैटिल होता। कार्डियोलॉजी के स्पेशलाइजेशन के लिये अमेरिका गया, वहीं का हो गया।” वे नहीं कहना चाहते तुम्हारे कलहप्रिय व्यवहार से उसने परख लिया था यहाँ तुम न उसे सुख से रहने दोगी न उसकी विदेशी पत्नी को।

“वहाँ से अच्छा नाम-दाम मिल रहा है।”

“हम अकेले“इतनी व्यस्तता रही। हम दोनों को अकेले रहने का, छोटे-छोटे सुख महसूस करने का मौका न मिला। अकेलापन और तुम्हारा साथ अच्छा लग रहा है।”

सन्ध्या नहीं कह सकी - जबकि जानते हो मुझे तुम्हारा साथ कभी अच्छा नहीं लगा।

“जानती हो इन दिनों क्या सोचता हूँ?”

“क्या?”

“जीवन में रिवर्स गियर लगाने की सुविधा होती तो लगा कर जीवन को मैं उस तारीख पर ले जाता जहाँ से तुम्हारे साथ गृहस्थी शुरू की थी। रिश्ते को मजबूती देने के लिये वह सब करता जो नहीं कर सका।”

सन्ध्या नहीं कह सकी - प्राप्य के असंतोष और अप्राप्य के पछतावे के कारण न मैं भली प्रकार जी सकी, न तुम्हें जीने दिया, न बच्चों को। असंतोष, अलगाव, अरुचि दिखाते हुये मैंने दाम्पत्य को जाया हो जाने दिया। तुम कितनी मजबूती देते?

“तुम्हारा दोष नहीं था।”

“मैं तुम्हें अच्छा साथ और समय नहीं दे पाया इसे अपना दोष मानता हूँ। और ये कद तो यार फिर बढ़ाये न बढ़ा। लेकिन इसे मैं अपना दोष नहीं मानता हूँ।”

वे हँस रहे हैं। उन्हें हँसता देख सन्ध्या का दिल भर आया। बात ही ऐसी करते हैं।

“अच्छी बातें सोचा करो।”

उन्होंने भर आँख सन्ध्या को देखा। इसकी जिस नजर में ऐसी धार होती थी कि वे खुद को जिबह होता पाते थे कैसी नरम हो गई है।

कभी वे कहा करते थे सन्ध्या अच्छी बातें सोचा करो। यह कहती थी मुझे नाटकबाजी नहीं आती।

जबकि नाटकबाजी इसने डे वन से की।

कभी रूमाल, कभी ऐनक, कभी पेन, कभी मोबाइल भूलते हुये वे सोचते थे भुलक्कड़ इंसान हैं पर जीवन की समाप्त होती मियामद पर छोटी से छोटी बात जिस त्वरा से याद आ रही है उन्हें लगता है वे भुलक्कड़ नहीं थे बल्कि लापरवाही में चीजें भूलते थे। वे बातें तो जो निर्णय करती है जीवन को किस श्रेणी में रखा जाये बार-बार याद आती हैं। अच्छी तरह याद है जिस साल उन्होंने स्कूल पास किया उनका विवाह कर दिया गया था। उन्होंने ऊधम मचाया किंतु ग्रामीण पिता का अटल ग्रामीण फैसला। पाँचवे साल पाँच फुट छः इंच का कद लेकर बी०ए० अंतिम वर्ष की छात्रा सन्ध्या गौने पर आई तब वे पाँच फुट चार इंच के कद के साथ इंटरशिप कर रहे थे। उन्हें कल्पना नहीं थी विवाह और गौने के बीच सन्ध्या लम्बान लेती जायेगी और वे औसत पर न पहुँचेंगे। आगे भी बाजी मारते हुये वह कद पर मेद जाड़ेगी उनका निम्न औसत कद दुबलाया रहेगा। प्रथम रात्रि पर सन्ध्या के चेहरे में साफ भाव था उसकी कल्पना का सत्यानाश हुआ है। हैरान वे भी थे इन वर्षों में सन्ध्या ने किस बटी का सेवन किया जो लम्बान लेती गई लेकिन उन्होंने हैरानी को जाहिर नहीं होने दिया था। सन्ध्या को गुमसुम देख उनकी समझ में नहीं आ रहा था तालमेल कैसे बनायें? तालमेल की शुरुआत करते हुये उन्हें एम०बी०बी०एस० का प्रसंग सुना डाला -

“मैं सचमुच बेवकूफ था सन्ध्या। हम सब मेडिकल स्टूडेंट डेड बाडी को घेर कर खड़े थे। एनाटामी समझाई जा रही थी। किसी फ्लुइड का बहाव हुआ या जो भी छोटी सी हरकत से डेड बाडी आगे की ओर थोड़ा इस तरह तन गई जैसे उठने की कोशिश कर रही हो। सभी डरें पर मेरी चीख निकल गई-अंकलजी उठ गये। बहुत फटकार पड़ी। लड़के महीनों तक अंकलजी कह कर मुझे चिढ़ाते रहे।”

तालमेल को विफल करते हुये सन्ध्या ने कहा -

“मैं आपसे लम्बी हूँ इसमें मेरी क्या गलती? आपके घर की महिलायें हँसी उड़ा रही हैं।”

कहानी

बेमेल कद को लेकर गाँव में फुसफुसाहटें हुई थीं शहर में भी प्रश्न होते रहे हैं। सन्ध्या कसमसा जाती। वे भी हँस कर कहते -

“जब शादी हुई मैं सन्ध्या से ऊँचा था हा हा। मैं उतना ही रह गया ये विकास कर आगे निकल गई हा हा।”

उन्हें हँसते देख सन्ध्या का अलगाव बढ़ जाता। मानो कहना चाहती हो यह हँसने की नहीं शर्म की बात है।

आज वे ठीक-ठीक नहीं कह सकते उनके छोटे कद का असंतोष इतना प्रबल रहा या खुद के लम्बे कद का अभिमान कि सन्ध्या तीनों बच्चों अनुराधा, अनुमेहा और सबसे छोटे आनंद मोहन को उनके विकासशील दिनों में सचेत करती रही अच्छी डाइट से, वर्जिश से चाहे जिस तरह तीनों को खास कर आनंद मोहन को अच्छा कद हासिल करना है। विधाता का परिहास। बेटियों ने सन्ध्या का कद पाया, बेटे ने डॉक्टर साहब का। वह आनंद मोहन को निराश करती -

“आनंद, अनुराधा और अनुमेहा ने अच्छी लम्बाई ली है। लगता है तुम अपने पापा जैसे गिड़े रह जाओगे। कुछ करते क्यों नहीं?”

“माँ, पापा की हाइट को लेकर मुझे काम्प्लेक्स नहीं है। मेरा दिमाक पापा जैसा शार्प है। मैं इतना ही चाहता हूँ।” कह कर आनंद मोहन ने दर्शा दिया था वह निरर्थकता पर कभी विचार नहीं करेगा। ऐसे तमाम कारणों से साबित होता गया सन्ध्या उन लोगों में है जो सदैव अप्रसन्न और असंतुष्ट रहते हैं। ऐसे लोग असंतोष के कारण ढूँढ़ते हैं। सन्ध्या उनके कद को लेकर असंतुष्ट रही, कभी उनकी व्यस्तता को लेकर कभी छोटी जगहों पर हुई पदस्थापना को लेकर, कभी उन वजहों को लेकर जो वस्तुतः वजह नहीं थीं।

उन्हें याद है वे विन्ध्य अंचल के एक कस्बे में पदस्थ थे। बघेली भाषा नहीं समझ पाते थे। दूर देहात से एक युवक और उसकी वृद्ध माँ निठाल अवस्था में आये थे। युवक हाँफ कर बताने लगा-

“साहेब जी झरना झरत हय अउर खाँसी आवत ही।” चिकित्सा विज्ञान की पोथी में उन्होंने इन व्याधियों के नाम नहीं पढ़े थे।

“तकलीफ बताओ।”

“तकलीफय बता रहे हैं।”

कम्पाउण्डर ने अनुवाद किया “दस्त लगते हैं और खाँसी आती है।”

“बीमारी पकड़ में आ गई। तुम जल्दी ठीक हो जाओगे।” वे मुस्कराते हुये पर्चा लिखने लगे।

युवक आगे बौला “लक्सर (लगातार) माताराम का देख लेई। बेर-बेर गाँव से आवत नहीं बनय (आते नहीं बनता)।”

“आपको क्या तकलीफ है माताराम ?”

उदरशूल से कराहती वृद्धा बोली “आप ऐतने बड़े डाकघर। आपय बताय सकित हयन, हमरे पेट मा कहाँ पीरा (पीड़ा) हय। अउर का बेरामी (बीमारी) हय।”

“पीड़ा आप बताओ। बीमारी मैं बताऊँगा।”

“या टेल्नीफून (स्टेथोस्कोप) से पता चल जई पीरा कहाँ है।”

वे हँसी नहीं रोक सके थे “स्टेथोस्कोप दर्द नहीं बताता। आपको बताना पड़ेगा।”

“कबहूँ दहिने पिरात हय कबहूँ बाँये। कुछ समझ मा नहीं आबय।”

घर पहुँच वे सन्ध्या से बताने लगे थे -

“आज दो पेशेन्ट ने ऐसी बीमारी बताई कि आनंद आ गया। सन्ध्या खाना लगाओ। पूरी बात बताता हूँ।”

ठंडा खाना परोसते हुये सन्ध्या ने ठंडेपन से कहा “इस छोटी जगह में कोई आनंद नहीं है। बीमार हैं और बीमारी है।”

“और भी कुछ है पर डॉक्टर के आस-पास बीमार और बीमारी ही दिखती है।”

“इन देहातियों को फीस देने की तमीज नहीं है। वेतन कितना कम है। कैसे घर चले कैसे गृहस्थी।”

“गृहस्थी अच्छी चल रही है।”

“क्या अच्छा है गृहस्थी में?” जान लूँ।” वे नहीं कह सके थे - नहीं जान पाओगी क्योंकि तुम्हारी अप्रसन्न और असंतुष्ट रहने की आदत है। फिर उनका तबादला विन्ध्य अंचल से मालवा के लिए हो गया और वे यहीं बस गये।

कहानी

हाथ में यश। दिल में सच्चाई।
वे व्यस्त होते गये। सन्ध्या अस्त व्यस्त होती गई।
वे थक कर घर आते। सन्ध्या भावविहीन चेहरा
लिए मिलती। वे सरल भाव में बात करते। सन्ध्या बात
को जटिल बना देती।

“एक दस साल की बच्ची क्रिटिकल कंडीशन में
लाई गई थी। होप नहीं थी लेकिन मैंने कोशिश की।
बच्ची खतरे से बाहर है।”

“खतरे से बाहर न होती तो शायद अब भी घर न आते।”

“सन्ध्या खुश होकर बात किया करो। तुम खुश
रहोगी तो माहौल अच्छा रहेगा।”

“जल्दी खाना खाओ। मैं सोऊँ। सुबह जल्दी उठकर
बच्चों को स्कूल के लिये तैयार करना पड़ता है।”

उनकी नजर पालने में सोये आनंद मोहन पर
पड़ती। वे थकान भूल जाते-

“मैं घर आता हूँ ये छुटके मियाँ सो जाते हैं। सन्ध्या
इसे जगा कर इसके साथ खेलने की इच्छा हो रही है।”

“सब नाटकबाजी। बड़ी मुश्किल से सोया है।
जगा मत देना।”

“कड़वा बोलती रहो। मुझे डायबिटीज नहीं होगी।”

मधुमेह क्या गुदे खराब हो गये।

रीनल फेलियर।

हृदय विदारक रिपोर्ट।

“तुम ठीक हो जाओगे.....ठीक ही हो
..... कुछ नहीं हुआ है।” कह
रही सन्ध्या के भावविहीन मुख पर उन्होंने सिहरन, भय,
व्याकुलता जैसे भावों को लौटते देखा। कभी आश्वासन-
अवलम्बन न देने वाली सन्ध्या ऐसा आश्वासन दे रही
थी जिसे चिकित्सक होने के कारण वे जानते थे महज
आश्वासन है।

“मैं ठीक हूँ।”

“अच्छे से अच्छा इलाज, किडनी ट्रांसप्लान्टेशन
..... जो भी कराना पड़े, तुम ठीक हो जाओगे।”

किडनी ट्रांसप्लान्टेशन पर विशेषज्ञों ने राय दी -

“इस उम्र में किडनी ट्रांसप्लान्टेशन कठिन है। हाई
वी०पी० के मरीज के लिये और भी कठिन है। परिवार से
कोई किडनी डोनेट करे तो चांस लिया जा सकता है।”

“मैं सिरफिरा नहीं हूँ। न ही अमर होना चाहता हूँ।”

सन्ध्या ने पहली बार जाना किसी मुद्दे पर वे इतने
जिद्दी हो सकते हैं। अटल। अडिग। वह एक क्षण था
जब सन्ध्या क्या से क्या हो गई।

“खाना ले जाऊँ ?”

सन्ध्या ने इस तरह आग्रह कभी नहीं किया।

“क्या बनाया है?”

डॉक्टर साहब ने इस तरह कभी नहीं पूछा।

“बिना नमक के क्या बनाया जा सकता है?”

“ले आओ।”

थाली में बिना चुपड़ी रोटी, एक अमरूद की कुछ
फाँकों, कटोरी में दूध देख उन्हें ठण्डी थाली याद आ रही
है। स्वादिष्ट गरम भोजन की आस रहती थी लेकिन
सन्ध्या उनके सामने ठण्डी थाली रख मेज के दूसरे छोर
पर बैठते हुये मटर छीलने या भाजी काटने में व्यस्त हो
जाती। सन्ध्या का निरुत्साह उनकी स्वाद ग्रंथियों को
सुस्त कर देता। वे न जान पाते खाने का स्वाद कैसा है।
पहला कौर मुँह में डालते कि जेहन में अस्पताल में हुई
मरीज की मृत्यु पर परिजनों का क्रंदन ताजा हो जाता।
दूसरा कौर खाते कि मृत का विवर्ण मुख विचलित करने
लगता। परिजनों का आरोप - डॉक्टर ने ठीक से इलाज
नहीं किया.....भूख खत्म कर देता। रेफर किये गये
केस अक्सर इतनी बुरी दशा में आते कि खाना खाने की
इच्छा न होती। वे आधा-अधूरा खाकर उठ जाते। सन्ध्या
नहीं पूछती थी खाना क्यों छोड़ दिया? पूछती, तो वे
अपना विषाद कहते - मैंने हजारों मरीजों को ठीक किया
उसका जिन्न नहीं और एक पर इतना बवाल।
भूख ही मर गई। यदि सन्ध्या तोष देती - तुमने कोशिश
की। उसकी उम्र इतनी ही रही होगी, थोड़ा और खा लो।
वे शायद धीरज धर कर एक चपाती और खा लेते।
खाने का स्वाद जान पाते। अब थाली में रखा है लवण
रहित परहेजी खाना। रोगियों को परहेज करने के लिये
सख्ती से डाँटते थे। किसी रोगी के बिस्तर में तम्बाकू की
पुड़िया या थैली देख लेते उठकर फेंक देते थे “यही
खाकर तुम बीमार हुये हो। खाओगे तो अस्पताल से
भगा दूँगा।”

कहानी

“सन्ध्या अब नहीं खाया जाता।” उन्हें थाली सरका दी।

“थोड़ा तो।”

“नहीं।”

“बाजार में गन्ना खूब आ रहा है। मँगवाऊँ क्या? स्वाद बदलेगा। तुम्हें पसंद भी है।”

“अब इच्छा नहीं होती। मुझे लगता है जीवन की तरह इच्छाओं की भी एक उम्र होती है।”

उन्हें याद है बाजार से गुजरते हुये वे ईख खरीद लाये थे।

“सन्ध्या, गन्ना दिख गया ले आया। गाँव में खेत से उखाड़ कर, दाँत से छील कर खूब खाया है। सरोते से काट कर गड़री (पीस) बनाओ। मैं खाऊँगा।”

आनंद मोहन दौड़ कर उनकी पीठ पर लद गया था “पापा गन्ने का मौसम जा रहा है। आपको अब गन्ना खाने की याद आई?”

उन्होंने आनंद मोहन को आगे खींच लिया था “तुमने याद नहीं दिलाया मेरे बच्चे।”

“देश-दुनिया की खबर रखने लगे तो कैसे मालूम होगा इतना व्यस्त रहते हैं। सब नाटकबाजी।” कह कर सन्ध्या ने मानो प्रदर्शित किया था वह उन्हें नापसंद करते-करते कितना नापसंद करने लगी है। बड़ी बेटी अनुराधा ने डॉक्टर साहब का पक्ष किया “माँ, पापा थक कर आते हैं, तुम माहौल बिगाड़ देती हो।”

“सब थक कर आते हैं। मैं ही निठल्ली हूँ। तुम्हारे पापा ने न कभी घर-परिवार के लिये वक्त निकाला न जिम्मेदारी समझी। पूछो किस क्लास में पढ़ती हो, नहीं बता पायेंगे।”

“सन्ध्या बच्चों से ऐसी बातें करोगी तो वे मेरे बारे में गलत राय बनायेंगे, तुम्हारे बारे में भी।”

“मैं बुरी हूँ। चण्डालिनी। पर ऐसी नहीं थी। तुम्हारे व्यवहार ने बना दिया।”

दंग होकर वे सन्ध्या को देखते रह गये थे। बातों को किस तरह फेंकते करने लगी है। जबकि वे और यह भी जानती होगी उनके कद, उनकी व्यस्तता, उनका अस्पताल से वक्त-बेवक्त घर आना, आपात स्थिति में वक्त-बेवक्त अस्पताल चल देना जैसी स्वाभाविक स्थितियों में यह असंतोष के कारण ढूँढ़ती है। सन्ध्या ने गड़री

बनाने में विलम्ब किया। वे ठीक से खाना भी नहीं खा पाये थे कि वकील का फोन कॉल आ गया गवाही के लिये उन्हें अदालत पहुँचना है। वे बिना गड़री खाये अदालत चले गये थे। आज सन्ध्या गन्ने की याद दिला रही है।

उनकी इच्छा हुई कहे - सन्ध्या मैं परिवार के लिए वक्त निकालना चाहता था पर न रोग का अंत था न रोगियों की संख्या कम होती थी। रोगी, शल्य क्रिया, विभागीय आयोजन, सेमिनार, अदालती गवाही जैसी व्यस्तता से मैं थकता था। बीमारों की कीचड़ भरी आँखें, जीभ, नाड़ी देखते हुये ऊबता था। लेकिन व्यस्तता के साथ मेरी छाती में भी संवेदनशील हृदय धड़कता था। मैं बच्चों को चलना सिखाना चाहता था। इत्मीनान से तुम्हारे साथ बैठ कर चाय पीना चाहता था। लेकिन तुम्हारे व्यवहार, तुम्हारे तेवर, तुम्हारे जड़ चेहरे को देख ऐसा निस्तेज और भयभीत हो जाता था जैसे किसी का वध करके आ रहा हूँ। तुम सहज-स्वाभाविक-संतुलित रह कर मुमकिन सा माहौल बनाती, छोटे-छोटे लमहों, छोटे-छोटे सुखों की याद दिलाती तो हम दाम्पत्य को बेहतर और प्रभावी बना सकते थे। बच्चे इस तरह डरे-सहमे न रहते। बेटियाँ शादी के बाद दूसरे माहौल में रम गई पर आनंद मोहन ने सहा है। छोटे कद के अपराध से तुमने उसे बरी नहीं किया कि छोटा कद पुरुषों के व्यक्तित्व की कितनी बड़ी कमी है। वह निराश रहने लगा था इसलिये मैं उसके प्रति दयालु होता गया। आज वह पिता बन चुका है फिर भी मुझे पालने में सोया शिशु आनंद मोहन बहुत याद आता है। लेकिन अब यह सब क्या कहना। इस तरह की बातें कर वे सन्ध्या को पछतावे में नहीं छोड़ जाना चाहते। हँस कर कहने लगे -

“जाप का प्रभाव पड़ा है सन्ध्या। मैं अपने भीतर ताकत महसूस कर रहा हूँ।”

पैरों में, चेहरे, देह में सृजन आ गई है। डायलिसिस की बात चल रही है लेकिन ताकत महसूस कर रहे हैं। सन्ध्या का कंठ रुद्ध है “तुम्हारी ताकत खत्म कब हुई थी। याद है स्लिप डिस्क के कारण तुम बेड रेस्ट पर थे। मरीज आते थे और तुम बिस्तर पर पड़े हुये पर्चा लिख देते थे। मरीजों को किसी और डॉक्टर पर भरोसा ही नहीं था।”

कहानी

यही सन्ध्या तब कहती थी “रोगियों को देखना है तो बिस्तर छोड़ो। अस्पताल जाओ या कायदे से आराम करो। इस तरह तुम ठीक नहीं हो सकते। तुम्हारे कारण मैं कहीं नहीं जा पाती। क्लब से कॉल आते हैं।”

“चली जाओ। मैं पड़ा रहूँगा।”

वह चली जाती थी।

आज पसीज रही है।

वे उसके पसीजने को महसूस कर रहे हैं “तब बिस्तर पर पड़े हुये पर्चा लिख देता था और अब इतना लाचार हो गया हूँ कि किसी का इलाज नहीं कर सकता।”

सन्ध्या ने उनका मुख बड़े ध्यान से देखा। उत्साहित रहने वाला यह चेहरा मलिन होते हुये कातर हो गया है। ओह

रोना नहीं चाहती पर कोरे चू रही है। वे घबरा गये -

“रोओगी तो मैं साहस खो दूँगा।”

सन्ध्या के रुद्ध कंठ से किस्तों में शब्द निकले “तुम ठीक कहते थे। सब कुछ किसी को नहीं मिलता। जिसे बहुत कुछ मिलता है उसका भी कुछ छूट जाता है। जो मिल रहा था उसे छोड़ मैं वह ढूँढ़ती रही जो नहीं मिल रहा था।”

“मेरा भी दोष था। तुम्हारी कुछ उम्मीदें रही होंगी। व्यस्तता कुछ सोचने न देती थी। कई बार तुम्हें मेरी वजह से एम्बरसमेन्ट हुई।”

“नहीं नहीं।”

एम्बरसमेन्ट।

क्लब में हजबैण्ड डिनर रखा गया था। वे क्लब पहुँचे तब प्रायः सभी लोग आ चुके थे। सन्ध्या खिलखिला रही थी। उनके सम्मुख इस तरह नहीं हँसती थी। उन्हें अच्छा लगा यह कहीं तो खुश है। सदस्याओं ने अपना पाक हुनर रात्रि भोज में झोंक दिया था। वातावरण में भली सी सुगंध प्रसारित थी। उन्हें तेज भूख लग आई। इच्छा हुई झपट कर गँवारों की तरह खाने लगे लेकिन शिष्टाचार बड़ी चीज है। क्लब की ये खायी-अघायी सदस्यायें तो शिष्टाचार को इस सीमा तक दिखाती हैं कि बनावटी लगने लगता है। यहाँ कतर-कुतर कर धीरे-धीरे सलीके से खाना पड़ेगा। वे उपस्थित पतियों से घुलने-मिलने की कोशिश करने लगे। गेम्स चल रहे थे।

पतियों को बाजी मारनी थी। खाना शुरू होने से पहले अस्पताल के दो कर्मचारी उन्हें ढूँढ़ते हुये आ गये। उन दिनों सीधे सम्पर्क के लिये सेलफोन नहीं था। उनके घर के टेलीफोन पर कॉल किया गया। कॉल रिसीव नहीं हुआ। दो कर्मचारी उनके घर भेजे गये। पड़ोस में मालूम हुआ क्लब में आयोजन है। क्लब पहुँच कर्मचारियों ने बताया-

“जहरीली शराब पीने से बीमार हुये एक गाँव के लोग बड़ी संख्या में अस्पताल लाये गये हैं

हाउजी कण्डक्ट कर रही सन्ध्या को सूचित कर, उपस्थित लोगों से क्षमा माँग वे तत्काल चल दिये। सन्ध्या को सदस्याओं ने दया भाव से देखा। सन्ध्या का चेहरा तेज सिहरन लेकर खिंच गया। डॉक्टर साहब के सौजन्य से झुग्गी-झोपड़ी, बस्तियों, स्कूली बच्चों का मुफ्त स्वास्थ्य परीक्षण कराते, दवाई वितरण कराते, बालरोग, मातृ-शिशु मृत्यु दर, स्तन पान, बालिका व्यक्तित्व विकास जैसे विषयों पर संगोष्ठी कराते, डॉक्टर साहब से सुनी बीमारी की जानकारी को आधार बना अच्छे प्रासंगिक भाषण देते, क्लब की सामाजिक गतिविधियों में यश बटोरते, क्लब की सदस्य से विभिन्न पदों पर होते हुये अध्यक्ष पद की जिस गरिमा पर वह पहुँची है उसे निरस्त कर डॉक्टर साहब अस्पताल रवाना हो गये। हजबैण्ड डिनर का प्रस्ताव उसी का था और उसके पति ने महत्व न समझा। उसने विषाद और वैमनस्य छिपाने की कोशिश की, लेकिन छिपा न सकी।

डॉक्टर साहब सुबह घर लौटे थे।

बार-बार बेल बजाने पर सन्ध्या ने इस भाव से द्वार खोला था कि खोलना नहीं चाहती थी।

“सन्ध्या, काम ही ऐसा सन्ध्या रिसा कर शयनकक्ष में चली गई। वे पीछे -

“एक गाँव के लोगों ने बारात में जहरीली शराब पी ली। पचास-साठ मरीज भर्ती हैं। अस्पताल में अफरा-तफरी है। पेट दर्द, उल्टी, सेलाइन, स्टमकवाश रात भर कोई डॉक्टर नहीं सोया।”

“मैंने कैसा फील किया, मेरी पोजीशन क्या हुई, सोचते हो कभी?”

कहानी

“व्यस्तता के कारण सचमुच नहीं सोच पाता।”
“तुम्हारी व्यस्तता ने मेरी जिंदगी नरक बना दी है।”
सन्ध्या की नजर में जो धार थी उन्हें लगा वे जिवह हो रहे हैं -

“तुम नहीं जानती नरक क्या होता है। जानना चाहती हो तो अस्पताल में ऐंठते-कराहते, उल्टी करते, दर्द से चिल्लाते लोगों को देखो। लोग बहुत तकलीफ में है सन्ध्या।”

“बीमार और बीमारी इन दो शब्दों से मुझे नफरत हो गई है। सबके पति देर तक एनज्वाय करते रहे। हमारी बेमेल जोड़ी को वैसे भी लोग पॉइंट आउट करते हैं, कल तो शर्मा जी ने यहाँ तक कह डाला डॉक्टर साहब पैसे के पीछे भाग रहे हैं। इतने पैसे का क्या करेंगे?”

“शर्माजी ऐसा सोचते हैं तो यही सही। मैं उनकी तरह न शराब पीता हूँ न देर रात तक जुआ खेलता हूँ। तुम तो जानती हो मेरे लिये पैसा नहीं काम महत्वपूर्ण है। तुमने शर्मा जी का विरोध क्यों नहीं किया?”

“जंग लड़ती?”

“लोग विपरीत बोलने की हिमाकत करते हैं क्योंकि तुम्हारे चेहरे, तुम्हारे व्यवहार से जान जाते हैं तुम मेरे साथ खुश नहीं हो। मेरे विरुद्ध सुनना तुम्हें अच्छा लगता है।”

“मैं बुरी हूँ। चण्डालिनी। लेकिन बार-बार कहूँगी तुम अस्पताल के अलावा किसी से मतलब नहीं रखते। न परिवार से, न समाज से।”

“मैंने भी बार-बार कहा आज फिर कहता हूँ सुबह से रात तक मरीजों की कीचड़ भरी आँखें, जीभ, नाड़ी देखना अच्छा नहीं लगता। ऊबता हूँ। थकता हूँ, झुंझलाहट होती है पर मैं डॉक्टर हूँ। लोगों को मरने के लिये नहीं छोड़ सकता। रात को बहुत भूख लगी थी। सोचा किसी को घर भेज कर गरम दूध मँगवा लूँ पर तुम क्या रियेक्ट करोगी सोच कर नहीं मँगवाया।”

“तुम्हारे फरमान पूरे करने के लिए ही यहाँ हूँ बाकी तो किसी को मेरी जरूरत नहीं है। न तुम्हें न बच्चों को।”

भड़कना-उखड़ना उनका स्वभाव नहीं। वे नरम पड़ गये “मुझे तुम्हारी जरूरत है सन्ध्या। अपने कपड़े धुलवाने, खाना बनवाने या दरवाजा खोलने के लिये नहीं

बल्कि तुम हो इसलिए मैं निश्चिंत रहता हूँ। लगता है सब ठीक चल रहा है। घर आऊँ और तुम न मिलो तो कमी सी लगती है।”

“मैं बेवकूफ नहीं हूँ जो तुम्हारी बातों में आ जाऊँगी।”

“जीवन ऐसे ही चलता है सन्ध्या। कमी और पूर्ति के साथ। छोटे-छोटे सुख और तकलीफों के साथ। पर लोग जो मिल रहा है उसे छोड़ वह ढूँढ़ते हैं जो नहीं मिल रहा है। एक दिन जीवन खत्म हो जाता है।”

जीवन सचमुच खत्म होने जा रहा है।

डॉक्टर साहब उसी अस्पताल में भर्ती किये गये हैं जहाँ इतने सालों तक सेवा दी है। सन्ध्या ने उनके मना करने के बावजूद अनुराधा और अनुमेहा को बुला लिया है। बेटियाँ कुछ अच्छी बातें कर उनके अंतिम क्षणों को थोड़ा आरामदेह बना देना चाहती हैं। अनुराधा कहने लगी -

“पापा आपको याद है, हम लोग गंगटोक गये थे। वह हमारे जीवन की सबसे अच्छी ट्रिप थी। उतना मजा फिर कभी नहीं आया।”

उन्होंने स्नेह से अनुराधा को देखा। बेटियाँ वस्तुतः स्नेही होती हैं। बोले -

“हाँ, हाँ। दिनों बाद हम लोगों ने एक साथ काफी समय बिताया था। अच्छा लगा था। तुम्हें याद है सन्ध्या?”

सन्ध्या खुद को कठघरे में पाती है। क्लब की सदस्यायें उपलब्धि की तरह बताती थीं पर्यटन पर कहाँ-कहाँ गई हैं। उसने ज़िद कर ली थी। वे सबको लेकर गंगटोक गये थे। बच्चे खुश थे। डॉक्टर साहब ने माना था साल में कम से कम एक बार परिवार को यह अवसर मिलना चाहिये। वे प्रसन्नचित्त लौटे थे लेकिन अस्पताल में नील का खाली बेड देख निराश हो गये। वे जब भी राउण्ड पर आते नील पूछता था “अंकल मैं स्कूल कब जाऊँगा? बहुत कोर्स हो गया है।”

“तुम जल्दी स्कूल जाओगे बच्चे।”

जानते थे उसकी आँतों में संक्रमण फैल चुका है। कभी शाला नहीं जा सकेगा लेकिन नहीं जानते थे उनके लौटने के दो दिन पहले अचानक उसकी तबियत बिगड़ेगी और वह नहीं बचेगा। पछतावा हो गया था - वे यहाँ होते

कहानी

तो बच्चा शायद कुछ दिन और संतोष रहता उन्होंने कोशिश की। घर पहुँचे तो संघात से उनका चेहरा स्याह हो रहा था। कारण सुनकर अनुमेहा दयार्द्र हो गई थी “पापा आप यहाँ होते तो नील सरवाइव कर लेता।”

“बहुत प्यारा बच्चा था।”

सन्ध्या को लगा वह दोषी ठहराई जा रही है। उत्तेजित हो गई -

“बच्चा मर गया बुरा हुआ पर हम लोग क्या काला पानी की सजा भोग रहे हैं जो कुछ दिन के लिये शहर छोड़ कर नहीं जा सकते ? मैं देख रही थी गंगटोक में तुम्हारा मन नहीं लग रहा था। तुम्हें घर-परिवार के फेर में नहीं पड़ना था।”

वे चाहते थे सन्ध्या कन्सोल करे उम्मीद दे लेकिन यह ऐसी संवेदनहीन जन्म से है या कब से हो गई कि एक बच्चे के मरने का इसे अफसोस नहीं होता।

“सन्ध्या तुम मरने वाले के चेहरे का भय और यातना देख लो तो अपनी निजी जिंदगी से अलग कुछ सोचोगी।”

“अस्पताल मेरे घर में घुस आया है। बीमार और बीमारी सुनकर मैं बीमार हो जाऊँगी और किसी दिन अकाल मर जाऊँगी।”

सन्ध्या का श्राप जैसे उन्हें लग गया है।

अंतिम वक्त उनके ठीक सामने है।

डायलिसिस की थकान और शिथिलता के बावजूद वे यह वक्त बेटियों के साथ बातें कर गुजारना चाहते हैं।

“अनुमेहा तुम्हें याद है मैंने मासूम मूवी कहाँ देखी थी?”

अनुमेहा बोली “आप किसी सेमिनार में दिल्ली गये थे। वहाँ देखी थी।”

“सेमिनार में एक शाम खाली मिल गई। हम कुछ डॉक्टर पास वाले थियेटर में चले गये। मासूम लगी थी। देख ली। उसमें एक गाना बहुत अच्छा है तुझ पर नाराज नहीं जिंदगी हैरान हूँ मैं कुछ गाने बहुत टची होते हैं।”

सन्ध्या सहम रही है। कितनी और कहाँ-कहाँ की बातें याद कर रहे हैं। कहीं यह बुझते दीपक की लौ का

भभकना उसे याद है डॉक्टर साहब दिल्ली से लौटे थे -

“सन्ध्या मेरे साथ विचित्रता होती रहती है। यहाँ समय नहीं निकाल पाता और वहाँ खाली समय का फायदा उठा कर हम कुछ डॉक्टर मासूम देखने चल दिये।”

अनुराधा हँसने लगी थी “पापा हम स्टूडेंट्स की तरह आप भी चोरी से मूवी देखते हैं ?”

सन्ध्या की विपरीत बोलने की आदत पुख्ता हो चली थी “वहाँ मूवी देखने का समय मिल गया, यहाँ जरूरी काम के लिए नहीं मिलता। सब नाटकबाजी।”

अनुराधा ने आपत्ति की थी “माँ तुम हरदम माहौल बिगाड़ती हो। ऐसे लोगों को कोई पसंद नहीं करता।”

सन्ध्या को लगने लगा था घर में षडयंत्र रचा जाने लगा है। कुचक्र। बच्चे, डॉक्टर साहब के पक्ष में चले गये हैं।

“अनुराधा अपनी टोन सम्भालो।”

अनुराधा कुछ कहती लेकिन डॉक्टर साहब के संकेत पर चुप रही।

घर का माहौल बिगड़ता गया।

उस सर्व सम्पन्न घर में ठण्डापन

सत्राटा घुटन भरती गई। सदस्य चुप रहने लगे। काम की बातें पूछी जातीं, संक्षिप्त उत्तर दिये जाते। फिर घर खाली होता गया। बच्चे एक-एक कर बाहर पढ़ने चले गये विवाह अपनी-अपनी गृहस्थी में व्यस्त। बच गये दो प्राणी। चुप, खामोश, एक-दूसरे से कतराते हुये। सन्ध्या जानती थी उसकी चुप्पी डॉक्टर साहब को ग्लानि से भरती है इसलिये अधिक चुप रहने लगी। वे जानते थे सन्ध्या उन्हें नापसंद करती है इसलिये अधिक चुप रहने लगे। दोनों जानते थे चुप रहना दाम्पत्य के लिये खतरनाक होता है लेकिन अधिक चुप रहने लगे। एक-दूसरे के अभिमान-स्वाभिमान को समझने-बचाने की कोशिश दोनों ने छोड़ दी और दाम्पत्य में निस्पृह भाव आता चला गया

डॉक्टर साहब के सेलफोन पर कॉल है - एक भूतपूर्व विधायक उन्हें देखने आ रहे हैं। सन्ध्या उनके बेड की सलवटों को ठीक करते हुये बोली -

कहानी

“अब क्यों आ रहे हैं ? तब तो एकनाथ को हंगामा करने से नहीं रोका था।”

“तुम्हें याद है सन्ध्या ?”

“भूलने की बात है ?”

विनयशील छवि वाले विधायक का इकलौता उच्छृंखल पुत्र एकनाथ वमन और पेट दर्द से शिथिल पत्नी मुक्ता को अत्यन्त गम्भीर अवस्था में अस्पताल लाया था। क्षयरोग से ग्रस्त ऐंठ-सूख कर आपस में चिपक गई आँत में छोटे-छोटे रंध्र हो गये थे। आपरेशन कर रहे चिकित्सकों ने आँतों की ऐसी दुर्दशा पहले नहीं देखी थी। डॉक्टर साहब ने अपने सधे हाथ और सधी दृष्टि से पूरी कोशिश की लेकिन रोगिणी का ऑपरेशन टेबिल पर प्रणांत हो गया। मुक्ता का प्राणांत एकनाथ के लिये राजनीति करने का मौका बन गया। उसने अस्पताल में समूह के साथ हंगामा किया “मार डाला मेरी पत्नी को कितना पैसा चाहिये था ? लाख, दो लाख मैं मुँह पर मारता। उनका जी चाहा था एकनाथ के कड़क कर्तों का कॉलर पकड़ कर कहें - ये शेयर मार्केट नहीं है जो तुम बोली लगा रहे हो। मुक्ता की स्थिति बताती थी वह महीनों से बीमार रही होगी। तुमने लापरवाही की। उसे क्रिटिकल कंडीशन में अस्पताल लाये। कितनी कठिनाई से उसके ग्रुप का ब्लड मिला। वे प्रबंधन के दबाव में चुप रह गये लेकिन एकनाथ ने दैनिक में छपवाया - डॉक्टर राम कन्हाई शुक्ल लापरवाह, लोभी, गैर जिम्मेदार चिकित्सक हैं। ओ०टी० में मरीज का पेट चीर कर उसके परिजनों से पैसा माँगते हैं। मुक्ता की बीमारी इन प्रयोगधर्मी चिकित्सकों के लिये प्रयोग का नमूना बनी हुई थी। रोज नये-नये प्रयोग-परीक्षण हो रहे थे। मेडिकल छात्रों को उसकी बीमारी के लक्षण समझाये जा रहे थे। सर्जरी में देर की गई और उसका प्राणांत हो गया।

वह कठिन दौर था। मुक्ता प्रकरण विधान सभा में उछाला गया। विशेष जाँच का आदेश हुआ। वे निर्दोष साबित हुये लेकिन लगा था अपनी पहचान खो बैठे हैं। बड़ी-बड़ी डिग्रियाँ जाली साबित हुईं। अर्जित उपलब्धियाँ छीन ली गई हैं। चाहते थे सन्ध्या प्रलेप लगाये-लोग तुम्हारे साथ हैं, विभाग तुम्हारे साथ हैं। तुमने कोशिश

की। मैं जानती हूँ तुम अपने काम में लापरवाही नहीं करते। उनकी ग्लानि कुछ कम हो जाती। पति अपने गलत प्रसंग और फैसलों पर भी पत्नी से समर्थन की उम्मीद कर खुद को तोष देना चाहते हैं वे कम से कम पत्नी की नजर में दोषी नहीं हैं। सन्ध्या ने तो उनके सही फैसलों में सहमति नहीं दिखाई।

“अस्पताल के लिये प्राण दे दो। यश नहीं मिलने वाला।”

भरा था दिल। वे रोना चाहते थे पर पुरुष आमतौर पर रोते नहीं। सन्ध्या का शुष्क व्यवहार अपने सर्किल में बताना चाहते थे पर पुरुष आमतौर पर अपने दुःख बताते नहीं। किसी से बताते तो लोग विश्वास न करते उन जैसा सर्व समर्थ व्यक्ति अभाव, असंतोष, अवसाद से गुजर रहा है।

विधायक के जाने के उपरांत डॉ० खान डॉक्टर साहब को एक आवश्यक इंजेक्शन लगाने आ गये।

“सर, आज आप काफी फ्रेश लग रहे हैं।”

वे मुस्करा दिये। उन्होंने मरीजों को ऐसे आश्वासन खूब दिये हैं। वे जानते हैं आश्वासन मरीज की इच्छा शक्ति को सुदृढ़ करते हैं पर जानते हैं ऐसे आश्वासनों में दम नहीं होता फिर भी बोले -

“बीमार कब लगता हूँ ?”

“बीमार नहीं लगते हो पर यह तुम्हारा कम्बल कहाँ जा रहा है। ठीक से ओढ़ो। ठंड लग जायेगी।”

सन्ध्या उनका कम्बल ठीक करने लगी।

कभी चाहते थे सन्ध्या उन्हें गरम मोजों और मफलर की याद दिलाये। ये बातें छोटी होती हैं लेकिन रिश्तों को मजबूत करती हैं। अब क्या शीत, ताप, आतपवर्षा सन्ध्या को कम्बल ठीक करते देख डॉ० खान बोले “सर, हम लोग बूढ़े हो जायें पर पत्नी हमें बच्चा ही समझती है। मैडम आपकी बहुत केयर करती हैं।”

सुनकर सन्ध्या खिड़की के पार देखने लगी। उनकी इच्छा हुई डॉ० खान से पूछे - आपकी पत्नी आपकी बहुत केयर करती हैं? करती हैं तो आप आम दम्पतियों से बेहतर स्थिति में हैं। मेरी राय में दाम्पत्य में एक आम सी स्थिति यह होती है कि पति और पत्नी को

अपना पक्ष, अपना आचरण सही, दूसरे का गलत लगता है। वे नहीं समझना चाहते इस द्वंद्व को खत्म कर दें तो इससे अच्छा नाता दूसरा नहीं है। इस नाते में अधिकार, बराबरी, मित्रता कई भावों की पूर्ति होती है। लेकिन इस रिश्ते में बहुत उठा-पटक है। मेरा तो मानना है डॉ० खान यह किसी एक दाम्पत्य की स्थिति नहीं है। सुदीर्घ साथ की बोरियत, किसी परिवर्तन की चाह, कल्पनाओं, अपेक्षाओं का पूरा न होना अक्सर संबंधों में दूरियाँ ला देते हैं। यह दूरी आरोप-प्रत्यारोप की शक्ल ले लेती है। दम्पति निरर्थकता, निरुत्साह, शुष्कता में जीने लगते हैं। यद्यति जानते हैं दूसरा विकल्प नहीं है। हो तो भी सामाजिकता और नैतिकता उस विकल्प तक पहुँचने नहीं देती। डॉ० खान मजा देखिये। तमाम द्वेष, घृणा, क्रोध, क्रूरता, मतभेद, खुरदरेपन, शिकायत के साथ यह बंधन अक्सर निभ ही जाता है। दोनों में जब एक साथी अंतिम मियाद पर आ जाता है सारी शिकायतें अपना स्वरूप और कारण खोकर उन अच्छे भावों में विलय हो जाना चाहती हैं जो जीवन को सुंदर, सुडौल, संतुलित बनाने के लिये जरूरी होते हैं। अफसोस। न जीवन वापस लौटता है, न भाव

डॉक्टर साहब कुछ नहीं कह सकते। क्या कहेंगे डॉ० खान और कैसा महसूस करेगी सन्ध्या? उसे पछतावे में नहीं छोड़ जाना चाहते।

अंतिम मियाद पर डॉक्टर साहब।

डायलिसिस कक्ष से आर्वाटित रूम तक स्ट्रेचर पर लाये जाते हैं। शिथिल, थके और चुप। लेकिन आज क्या हुआ? इस तरह बोलने लगे मानो फिर बोलना हो न हो -

“जानती हो सन्ध्या अब मैं क्या सोचने लगा हूँ?”

“क्या?”

“बहुत कुछ कहने से रह गया। बहुत कुछ करने से रह गया। जैसे अब तक जो किया उसकी पूर्व तैयारी थी जो करने से रह गया है। बहुत सी छोटी-छोटी इच्छायें जो बड़े काम करने की व्यस्तता में दब गई मन के किसी कोने में आज भी मौजूद हैं। मैंने न मौसम का आना-जाना देखा, न आसमान के रंग देखे, गृहस्थ होकर भी परिवार का पूरा

सुख न उठा सका, बच्चों के साथ जी भर खेल न सका और अब जब रिटायरमेंट की फुर्सत मिली यह बीमारी साथ लग गई प्रकृति की टर्म्स एण्ड कण्डीशन्स बहुत विचित्र है सन्ध्या तुम्हें नहीं लगता जिंदगी किस तेजी से बीत जाती है?”

बहक रहे हैं। इतना और इस तरह कभी नहीं बोले। सन्ध्या ने बोलने नहीं दिया। उसकी इच्छा हुई शरणागत जैसे भाव में कनफेशन करे - हाँ मुझे भली प्रकार जीना नहीं आया। मैं उन लोगों में हूँ जिन्हें अप्रसन्न और असन्तुष्ट रहने की आदत होती है। मैं अप्रसन्न और असन्तुष्ट रहने के कारण ढूँढ़ती रही। अपने असंतोष और अप्रसन्नता को वाजिब साबित करने के लिये कुतर्क करती रही। तुम्हारा छोटा कद तुम्हारा दोष नहीं था पर मैं तुम्हारे कद को लेकर असन्तुष्ट ही नहीं लज्जित रही। यही धिक्कार आनंद मोहन के लिये रहा। एक कद ही नहीं तमाम कारणों से मैं बेस्वखी और अलगाव बढ़ाती गई। तुम शांत और फिर प्रतिक्रिया विहीन होते गये मैं मनमानी करने लगी। कभी-कभी मैं खुद को गुनहगार भी पाती थी। खुद को दुरूस्त करने का संकल्प करती थी लेकिन पता नहीं कैसी एल०ओ०सी० बनती गई दरमियान कि संकल्प, संकल्प ही रह गया। सच कहूँ तो तुम्हें सामने देख मुझे पता नहीं क्या हो जाता था। कैसी चिढ़, धुन, निष्क्रियता, अरुचि कि मैं आइसबर्ग बन जाती। खुद को श्रेष्ठ और प्रभावी समझकर मैं स्वयं को कुम्हार का चाक मानती रही। भूल गई चाक एक कील पर टिका होता है। कील नहीं तो चाक का अस्तित्व क्या? आज मन-प्राण से स्वीकार करती हूँ तुम वही कील हो। घर और बाहर मेरी जो भी ताकत और प्रभाव है, तुम्हारे कारण है। जब तक तुम हो मेरी ताकत है, प्रभाव है। भले ही बेड पर हो। पत्नी का स्वाभिमान पति ही निभाता है। आगे आनंद मोहन के सहारे.....। अंधकार.....। आनंद मोहन और उसकी विदेशी पत्नी यहाँ रहने नहीं आयेंगे। मैं उनके पास नहीं जाना चाहती, लेकिन आनंद मोहन साफ कहेगा.....माँ तुम्हारी पापा जैसे सच्चे इंसान से जमी नहीं, बहू से क्या बनेगी। तुम ठीक कहते थे प्राप्य का असंतोष

कहानी

और अप्राप्य का पछतावा ठीक तरह जीने नहीं देता

हाँ, मुझे जीना नहीं आया न जी भरकर रूठि न मनाने का तुम्हें अवसर दिया अब तो मान-मनुहार के मौके बहुत पीछे छूट गये हैं बस सामने है रोने का मौका रोने का मैं जी भर कर रो भी नहीं सकती। रोने का अर्थ तुम्हें आभास देना है तुम्हारे जीवन की मियाद खत्म नहीं। मुझे ईश्वर की सत्ता पर भरोसा है। कोदौराम ने बताया है उसके गाँव में देवी का मंदिर है। मर्ग की बलि देनी पड़ती है। ऐसे मरीज अच्छे हो गये हैं जिनके जीने की आस नहीं थी मैं वह पूजा करूँगी

वे सन्ध्या को निहार रहे हैं। अकेले हो जाने की आशंका और आनंद मोहन के रहमोकरम पर रहने का भय इसके चेहरे पर है। संध्या उन्हें बहुत निरीह बहुत अकेली लगी। भर आया उनका दिल। यह जैसी भी रही, लेकिन उन्होंने भी मान लिया था इसे बदला नहीं जा सकता वे निस्पृह हो गये थे। बेहद गरमाहट, अपनेपन, जिद की तरह इसे मनाने की कोशिश नहीं की। करते तो शायद नरम पड़ जाती। एक सरल राह निकलती अब तो पटाक्षेप.....

संध्या लाल साड़ी पहने हुये अस्पताल आई तब सुबह के दस बज रहे थे। उन्होंने माना वह इस उम्र में भी खूबसूरत लगती है। लाल रंग में तो बड़ी ग्लैमरस लग रही है। बोले -

“लाल मेरा फेवरेट कलर है। तुम पर बहुत अच्छा लग रहा है।”

“इसीलिये लाल साड़ी पहनी है। मुझे एक पूजा करानी है। अनुमेहा को साथ ले जाऊँगी। अनुराधा तुम्हारे पास रहेगी। जल्दी लौटूँगी।”

“मेरे लिये तुम भगवान को बहुत कष्ट दे रही हो।”

और अनुमेहा के छह साल के पुत्र सरस ने मूर्खता कर दी -

“नाना, नानी के साथ मैं भी कोदौराम के गाँव जा

रही हूँ। नानी टैम्पल में काँक की बलि देगी। ये बलि क्या होता है ?”

उनके मस्तिष्क की सम्पूर्ण नसें झनझना गई। लाल साड़ी रक्त रंजित लगने लगी। संध्या आततायी। उनका जीवन बचाने के लिये जीव हत्या। यह अमानवीय, बल्कि वीभत्स पूजा है। चीखने की आदत नहीं। कम बोलते हैं। बोलने में साँस भर आती है लेकिन बोले -

“संध्या मुर्गा अपने प्राण देकर मेरे प्राण नहीं बचा सकता। बचा सके फिर भी मुझे यह क्रूरता मंजूर नहीं मैंने लोगों का जीवन बचाया है मैं वध का विचार तक नहीं कर सकता। जानता हूँ मैं नहीं बचूँगा पर आज तुमने मेरी जीने की इच्छा खत्म कर दी कभी नहीं कहा, लेकिन कह रहा हूँ तुमने सम्भावनाओं पर कभी नहीं सोचा..... सोचती तो हम बेहतर समय बिता सकते थे..... अब असम्भावनाओं पर सोच रही हो संवेदनाओं, भावनाओं, प्रेरणा, प्रोत्साहन का अब अर्थ नहीं..... यह पूजा नहीं होगी

उनकी देह में ताकत नहीं है, लेकिन मजबूत होकर ठीक सामने है। पूरी उम्र उन्हें परास्त करने वाली सन्ध्या ऐसी हतबल हो गई कि एक छोटी सी दलील नहीं ढूँढ़ पा रही है। अनुराधा और अनुमेहा निर्वाक। सरस नहीं समझा उसने ऐसा क्या कहा जो इतना बवाल। उन्होंने सिर तक कम्बल तान लिया। मानो परिदृश्य से विलुप्त हो जाना चाहते हैं। सन्ध्या का जी चाहा उनके तेजी से झुकते चले जा रहे कंधे पर सिर रख कर रो ले उन्हें ऐसी समीपता की आदत नहीं इसमें साहस नहीं। वे इतने स्पष्ट कि दृश्य देखना नहीं चाहते यह इतनी बेवस कि मोह से, नेह से उन्हें मना नहीं सकती कुछ देर पता नहीं किस सम्भावना की प्रतीक्षा में खड़ी रही फिर अटैच्ड बाथरूम में चली गई। आँखें बरस रही थीं नल की धार के साथ धारों-धार

संपर्क : सुषमा मुनीन्द्र द्वारा श्री एम. के. मिश्र, जीवन विहार अपार्टमेन्ट, फ्लैट नं० 7, द्वितीय तल, महेश्वरी स्वीट्स के पीछे रीवा रोड, सतना (म.प्र.)-485001, मोबाइल: 8269895950

ढिबरी की मध्दिम रोशनी में विजया ने अपना चेहरा देखा। गोरे गुलाबी गालों पर बालों के गिरते लट। अचानक वह मुस्कुरा पड़ी। अब तो गाल पर गड्डे भी दिखने लगे। उसे अपनी सुंदरता पर नाज़ हो रहा था। दीपक ने गलत नहीं कहा था कि वह भोर के ओस जैसी स्निग्ध और गुलाब की पंखुरी सी कोमल है। उसे रात इसी ढिबरी की रोशनी में गुजारनी थी क्योंकि छोटे भैया बाहर गए हुए थे, आने पर वही बिजली की तार में हुई खराबों को ठीक करेंगे, बाकी तो इतने बड़े घर में और कोई उसे पूछने वाला नहीं था। तभी भाभी की आवाज़ सुनाई दी, 'अरे, विजया, कब तक ढिबरी जलाए रखेगी? तेल नहीं खर्च हो रहा? चल, बुझा कर सो जा।' विजया ने ढिबरी बुझाई। सोने का उपक्रम करने के बाद भी नींद कोसों दूर थी। उसे बाबा की याद आने लगी। शहर के जाने-माने पंडित साहब की बेटी थी वह। परिवार दकियानुसी विचारों वाला अवश्य था, पर बाबा के रहते इस बात की कभी कमी महसूस नहीं हुई। वह शहर के अंग्रेजी मीडियम स्कूल में पढ़ने जाती, वह भी स्कर्ट पहन कर। उसकी दादी और दो बड़े भाई अक्सर पढ़ाई छुड़वा कर हाथ पीले कर देने की बातें करते लेकिन बाबा ही थे जो उन्हें अनसुना कर देते। तीन भाइयों की अकेली और सबसे छोटी बहन थी वह। दोनों बड़े भाइयों और उसके बीच काफी अंतर था। देबू भाई ने एक बार दलील दी थी, 'जब यह स्कूल जाती है, गली के लड़के फब्तियाँ कसते हैं। दुपट्टा भी इसके सर नहीं होता। क्या आवश्यकता है ऐसी पढ़ाई की जो इज्जत उछाल दे।' यह तो बाबूजी ही थे जिन्होंने सदा ही उसका साथ दिया। उन्हें झिड़क कर वह कहते, 'जब तक मैं जिंदा हूँ, इसे पढ़ने से कोई नहीं रोक सकता।' पिता उसूलों वाले थे पर पढ़ाई और नयी सोच के पक्षधर। इसलिए जब देबू भाई और मंझले जेबू भाई ने बेहद कम पढ़ी-लिखी लड़कियों से शादी करनी चाही तो उन्होंने घोर विरोध जताया। भाइयों ने इसका गलत अर्थ लिया। वे सोचते कि उनकी पसंद की लड़कियों को वे अपनी बहू नहीं बनाना चाहते। बुआ जी के पैतरे काम आ गए थे। वो हमेशा दोनों भाइयों को अपने घर बुला कर जाने क्या पट्टी पढ़ाती थीं। बुआजी की शादी के बाद घर में अक्सर कलह-विवाद होता रहता। भाभियाँ बड़ी साधारण थीं, उन्हें विजया की खूबसूरती खूब सालती। घर की बिगड़ती स्थिति को बाबा ने दिल से लगा लिया और इसी सदमे में चल पड़े। माँ भी फिर ज्यादा दिन तक नहीं जी पाईं। उनके जाने के बाद तो भाइयों-भाभियों से भरे परिवार में भी विजया अकेली पड़ गयी। उलाहना सुनते-सुनते उसके कान पक गए थे। कॉलेज से आकर उसे पूरे परिवार का खाना बनाना पड़ता। इन्हीं विचारों के मध्य उसने जाने कब नींद आ गयी।

सवेरे पाँच बजे के अलार्म के साथ उसकी नींद टूटी। दोपहर का खाना बना कर समय से उसे कॉलेज पहुँचना होता था। सबसे निकट का रास्ता चुनने के बाद भी वह कक्षा में लेट पहुँचती। आज भी वही हाल था। कक्षा में प्रवेश करते ही मनचले लड़कों के ग्रुप ने फब्तियाँ कसनी शुरू की। 'आ गयी प्रधान मंत्री जी', एक ने कहा। दूसरे ने दूसरी गोली छोड़ी, 'एक हम हैं एक दिन लेट पहुँचे तो बाहर कर दिए जाते हैं, पर इन्हे कौन कुछ कह सकता है?' 'नेताओं की तरह लेट पहुँचने के कारण उसका नाम 'प्रधान मंत्री' पड़ गया था।

क्लास के सभी लड़के उसकी खूबसूरती के कायल थे। फ्रेंडशिप डे और वैलेंटाइन डे में तो वह जानबूझ कर कॉलेज नहीं जाती, वो आफत के दिन थे उसके लिए। दूसरे दिन भी उपहारों का अम्बार लग जाता जिन्हे वह अपनी सहेलियों में बाँट देती, अन्यथा घर ले जाने पर किसी की नज़र पड़ जाए तो एक नयी मुसीबत आरम्भ हो जाती। शायद कॉलेज ही छड़वा दिया जाता। यँ भी आगे की पढ़ाई अब केवल छोटे भाई की इनायत पर चल रही थी। छोटे भाई की अभी शादी नहीं हुई थी और वह दिलो जान से उसे चाहते थे।

इधर कुछ दिनों से उसके एक सीनियर दीपक की उससे खूब बन रही थी। बनना क्या, उसका झुकाव ही था विजया की ओर। एक-दो बार उसकी खातिर दीपक की मनचलों के साथ झड़प भी हुई थी। तब एक दिन प्रैक्टिकल क्लास में उसे अकेले देख कर विजया ने कहा, 'तुम मेरे पीछे अपना समय जाया न करो। मेरा कोई भविष्य नहीं है। हमारे मेल जोल का पता मेरे भाइयों को लग गया तो मुझे ज़िंदा गाड़ दिया जाएगा।' दीपक ने मुझे दिलासा देते हुए कहा, 'मैं ऐसी नौबत नहीं आने दूँगा। अपने पैरों पे खड़ा होकर तुम्हारे भाइयों से तुम्हारा हाथ माँगूँगा।' कॉलेज से घर पहुँच कर थोड़ी देर के लिए वह लेट गयी। पता नहीं क्यों मिज़ाज़ उखड़ा हुआ सा था। तभी बड़ी भाभी की आवाज़ आयी, 'विजया, आज क्या महारानी जी को काम नहीं करना, चल जा, काम पर लग जा। आज रात बड़े भैया को बाहर जाना है, सो खाना खा कर ही जायेंगे।' बेमन-सी उठ पड़ी। काम करते हुए भी वह दीपक के बारे में सोच रही थी। दूध के भगोने को गैस पर रख ध्यान नहीं रहा और दूध उबल कर फर्श पर गिरने लगा। उसकी महक से भाभी कमरे में आई और चिल्ला पड़ी, 'सत्यानाश कर दिया। उसकी चोटी पकड़ कर लगभग चीखते हुए बोली, 'आज कल कहाँ दिमाग रहता है तुम्हारा? अब सफ़ाई करो और इस की भारपाई के लिए पानी पी कर सो जाना। खाना-वाना नहीं मिलेगा तुम्हें।' मंज़ली भाभी ने भी हाँ में हाँ मिलाया। रात को सभी को खाना खिलाने के बाद रसोई धो-पोंछ कर विजया अपने कमरे में पहुँची। अंग-अंग में दर्द था। एक गिलास पानी पी कर सोने का उपक्रम करने लगी। करीब डेढ़-दो बजे किसी ने हलके

से दरवाज़ा खटखटाया। दरवाज़ा खोला तो सामने छोटे भैया खड़े थे। उनके हाथों में एक कागज़ में लिपटी रोटियाँ और थोड़ी सब्जी थी। उन्होंने उसे पकड़ाते हुए कहा, 'दरवाज़ा अंदर से लगा कर जल्दी से खा ले लाडो। कोई जान न पाये।' विजया की आँखों से आँसू बह निकले। इसलिए नहीं कि उसके भूख का निवारण हो गया था, बल्कि इसलिए कि छोटे भैया उसका कितना ख्याल रखते थे। कई बार तो भाभियों के व्यवहार से त्रस्त हो कर उसका मन करता कहीं भाग जाए पर छोटे भैया की परेशानी समझ वह कुछ न कर पाती। धीरे-धीरे विजया ने ग्रेजुएशन कर ली। मोहल्ले वाले उसकी भाभियों से कहते कि इतनी बड़ी लड़की घर क्यों बिठा रखी हो, अब इसके हाथ पीले कर दो।

उसने महसूस किया कि बड़ी भाभी कुछ दिनों से बड़ा अच्छा व्यवहार कर रही है। कोई डाँट या छींटकसी नहीं। भाई - भाभी दबी जुबां में कुछ बात करते, जैसे ही वह आस-पास आती, वे चुप हो जाते। दो दिन बाद दोपहर के समय घर के सभी लोग बैठक में बैठे थे। बड़े भाई ने आवाज़ दे कर उसे बुलाया। उसके प्रवेश करते ही चुप्पी छा गयी। मानो सब इंतज़ार कर रहे हों कि पहले कौन खामोशी तोड़े। आखिरकार बड़े भाई ने कहा, 'विजया हमने तुम्हारे लिए एक लड़का देखा है। तुम्हारी भाभी के ममेरे भाई जो कुवैत में रहते हैं, वो तुमसे विवाह करने को राजी हैं। तुम तो जानती ही हो उन्हें, बेशुमार धन-दौलत है उनके पास। फिर कहीं और विवाह की बात करने से दहेज़ और अन्य खर्च बढ़ जायेंगे। इसलिए अब तुम भी उनसे शादी करने की बात मन में बिठा लो।' विजया सन्न रह गयी। उसे कुछ कहते न बना और कुछ कहने से वहाँ सुनता कौन? भैया का प्रस्ताव निर्णय ही था। किसी ने आगे कुछ न कहा। उसने एक बारगी छोटे भाई की ओर देखा। नज़र मिलते ही उन्होंने नज़रें झुका लीं, मानो इस निर्णय का सहमत कर रहे हों। वह चुपचाप अपने कमरे की ओर बढ़ गयी। सुंदर से वह बड़े भाई की शादी में ही पहली और अंतिम बार मिली थी। एक नंबर का ऐय्याश और आपराधिक वृत्ति का मालिक था वह। तीन शादियाँ उसने पहले ही की थी। जिसमे से दो पत्नियों ने ज़हर खा लिया और तीसरी से तलाक हो

कहानी

गया। अब वह विजया से चौथी शादी रचाने जा रहा था। व्यवहार और स्वभाव से बदचलन उस पुरुष से विवाह रचाने को विजया कतई तैयार नहीं थी। इस आकस्मिक निर्णय के बाद वह रात भर रोती रही।

अगले दिन कॉलेज में लाइब्रेरी की किताबें लौटाने के बहाने वह निकली। रास्ते में दीपक को फ़ोन किया और कॉलेज में मिलने को कहा। दीपक ने उसे दिलासा देते हुए उसके भाइयों से मिलना चाहा, लेकिन उसके बाद के बुरे परिणाम को भी वह जानती थी। अतः उसे घर आने से मना करते हुए भरी आँखों से उसे अलविदा कहा। अब उसके पास अंतिम उम्मीद केवल छोटे भैया बचे थे। एक दिन छोटे भाई को घर में अकेला देखकर उसने कहा, 'भाई, मुझे पता है बड़ी भाभी के प्रस्ताव पर आप भी राजी नहीं होंगे। मैं कुवैत नहीं जाना चाहती भाई। आप को मैं एक ऐसे लड़के से मिलवाना चाहती हूँ जो मुझसे विवाह करना चाहता है। उसका मेरठ में मोटर पार्ट्स की दुकान है। हम दोनों एक-दूजे को पसंद करते हैं।' छोटे भाई ने कहा, 'मुझे पता है कि घर में तुम्हारा भला कोई नहीं सोचता। पर हमारी बिरादरी में ऐसी शादी से हमारी नाक कट जायेगी। हमारे यहाँ प्रेम विवाह की इजाज़त नहीं है। फिर दोनों बड़े भाइयों की कद्र हमें करनी ही होगी। हम उनके आसरे पल रहे हैं।' किसी सटीक निर्णय पर पहुँचने के पहले छोटे भाई की टाल-मटोल वाली बातें विजया को एक बार फिर निराशा के गर्त में डाल गयीं। अब उसके पास कोई रास्ता नहीं बचा था। उसे अपने भाग्य पर दया आ रही थी।

भाभी ने उसकी चुप्पी का मतलब यही समझा कि वह इस विवाह के लिए तैयार है। आनन-फानन में कुवैत सूचना भेजी गयी कि लड़की शादी को राजी है, यहाँ इंतज़ामात भी शुरू हो चुके हैं, अब बस आप यहाँ आने की तारीख बता दें। भाभी ने अपनी पुरानी लेकिन अच्छी साड़ियों का एक बक्सा ठीक किया। चार दिन बाद विवाह की तारीख पक्की हुई। उसी दिन सवेरे सुंदर

यहाँ आने आने वाला था। विजया का रोते-रोते बुरा हाल था। इस बीच दीपक ने एक बार भी संपर्क नहीं साधा था। उसे सारी दुनिया ही झूठी लगने लगी थी। शादी के दो दिन पहले दोनों भाभियाँ सोनार के घर गयी हुई थीं। दोनों बड़े भाई भी होटल बुक कराने और खाने-पाने का एडवांस आदि देने निकल चुके थे। उनके जाने के बाद छोटे भाई भी निकल पड़े। करीब एक-डेढ़ घंटे बाद छोटे भाई का फ़ोन आया कि पिछली गली में उनके एक दोस्त शमीम जिन्हें वह अच्छी तरह जानती थी, उसके घर पहुँच जाए। पिछली रात वह एक अंगूठी और गरारे की बात कर रहे थे, उसने सोचा कि शायद उनके नाप लेने होंगे, इसलिए बुलाया है। जैसे-तैसे घर से वह निकल पड़ी। चेहरा सूजा हुआ था। शमीम के घर पहुँचकर उसे घोर आश्चर्य हुआ कि उनके साथ दीपक भी खड़ा था। छोटे ने कहा, 'विजया, तू दीपक के साथ मेरठ चली जा। यहाँ से पंद्रह मिनट में तुम दोनों बस स्टैंड पहुँच जाओगे और आधे घंटे के बाद मेरठ की बस खुलेगी। तुम्हारे जाने के बाद के तूफ़ान को मैं संभाल लूँगा। एक नरक से निकालकर मैं दूसरे नरक में तुम्हें नहीं ठेल सकता।' 'एक लम्बी श्वास भरकर कहा, 'कह दूँगा कि बदचलन थी इसलिए भाग गयी। मुझे पता है कि तुम्हें खोजने के लिए वे ज्यादा दौड़ भाग भी नहीं करेंगे। अभी काफी वक़्त है, भाभी सुंदर को समझा देगी। तुम दोनों जल्द ही विवाह कर लेना और इधर भूलकर भी न आना। मुझे कोई फ़ोन - वोन नहीं करना। समय इस ज़ख़्म को भर देगा। मैं उचित समय देख कर तुम दोनों से संपर्क करूँगा। मैंने सोच-समझ कर यह अंतिम फैसला लिया है।' इतना कहते हुए छोटे भाई ने विजया के हाथों में दस हजार की गड़ियाँ पकड़ा दीं। वह क्षण भर के लिए अवाक रह गयी। सब कुछ एक ड्रामे की तरह था। वह भाई से गले मिलकर रो पड़ी। दूसरे ही क्षण दुपट्टे से चेहरे को ढँक लिया और तेज़ क़दमों से वे बस स्टैंड की ओर चल पड़े।

संपर्क : डी. - 15, सेक्टर - 9, पीओ - कोयलानगर, जिला - धनबाद, पिन - 826005, झारखण्ड ई मेल -kavitavikas28@gmail.com, मोबाइल - 9431320288

वृन्दावन

स्वाति मिश्रा

तानी अपनी माँ मिताली को लेकर आज घर आ ही गयी। पिता डॉ बिश्वजीत रॉय की मृत्यु के बाद तानी के भाई भाभी यानी मिताली के बेटे-बहू का व्यवहार उससे अच्छा न रहा। घर, जमीन सब तो पहले ही डॉ रॉय अपने बेटे के नाम लिख चुके थे पर बेटी के नाम पर खरीदा एक मात्र प्लॉट भी आखिरकार मिताली को अपने बेटे के नाम पर लिखना पड़ा। कारण अपने बेटे, बहू द्वारा बात-बात पर कलह, लड़ाई। प्लॉट लिखने के बाद भी बेटे और विशेष कर बहू के मन में आदर के बीज नहीं बो पाई।

सुबह की चाय लेकर जब मिताली तानी के कमरे में गयी तो तानी चौंक कर उठी- “माँ, तुमने क्यों किया? मैं जाग चुकी थी। मैं बना लेती न।” हाथों से आँखों को मलते हुए तानी ने कहा।

“तो क्या हुआ अगर मैंने बना लिया। बेटा मैं तुझसे कुछ कहना चाहती थी” सकुचाते हुए मिताली ने अपने मन की बात कही तो तानी ने अपनी माँ के नजरो में देखते हुए कहा- “बोलो न माँ क्या बात है?”

“बेटा मैं वृन्दावन जाना चाहती हूँ। मेरे जीवन के जो बचे हुए दो-चार साल हैं, मैं प्रभु भजन में बिताना चाहती हूँ। माँ के आवाज में एक विनती थी पर तानी माँ को अपने से दूर वृन्दावन नहीं जाने देना चाहती थी। पिता के मृत्यु के समय वो साथ नहीं थी पर माँ के अंतिम साँसों तक उनके साथ रहना चाहती थी। उनकी सेवा करना चाहती थी। विचलित आवाज में तानी ने अपनी माँ को समझाते हुए कहा- ‘क्या माँ तुम भी! अभी तो आयी हो और कहीं जाने की जरूरत नहीं है तुम्हें। यहाँ रहो और जितनी चाहे उतनी भजन करो।’

चाय का कप उठा कर तानी रसोई में चली गई पर बेचैनी को दबा न पाई। पिता से दूर होने के बाद अब माँ से दूर नहीं होना चाहती थी। बात आई-गई हो गई। उस दिन के बाद न तो फिर कभी मिताली ने वृन्दावन का नाम लिया और न ही कहीं और जाने का जिक्र ही तानी से किया। मिताली अपनी बेटी का दिल नहीं दुखाना चाहती थी। उसके लिए उसकी बेटी और बेटा दोनों तानी ही थी। तानी का पति भी अपनी सासु माँ से बस ठीकठाक व्यवहार करता था। मिताली के बहु-बेटे ने न कभी अपनी माँ की खोज खबर ली न कभी तानी को ही फ़ोन किया।

उस रात मिताली को प्यास लगी। कमरे से बाहर किचन की ओर जाने लगी पर पैर तानी के कमरे के पास ठिठक गए।

“तानी.....यार तुम समझ क्यों नहीं रही हो। मम्मी जी ओल्ड ऐज होम में रहेगी तो इसका मतलब ये नहीं कि हम से रिश्ता नाता टूट जाएगा उनका। वो तो बस.....’ समझाने के लहजे में तानी के पति सुमंत ने कहा।

कहानी

- 'नहीं कुछ नहीं सुनना है मुझे और सुमंत तुम तो ऐसे नहीं थे। दादा के बाद अब तुम भी?' लगभग धिक्कार वाले आवाज में तानी ने कहा।

- 'हाँ तो क्या करूँ? तुम्हारी माँ को अपने सिर पर बैठाऊँ? तुम्हारे भाई ने तो अपने सिर से बोझ उतार फेंका हमारे सिर पर। और अगर मैं ऐसा सोच रहा हूँ तो उनका भी भला है इसमें। अपने उग्र के लोगों के बीच रहेगी तो मन भी लगेगा। हम दोनों को अपने काम से छुट्टी कब मिलती है।'

अगली सुबह तानी माँ के लिए चाय बनाकर उनके कमरे में गयी। उन्हें कमरे में नहीं देखा तो सोचा आस पास कहीं होगी। आधे घण्टे बाद भी जब माँ घर नहीं लौटी तो वह परेशान होने लगी। पास पड़ोस में भी पूछ लिया, पास के मंदिर में भी देख आयी। आखिर में तानी ने अपने भाई को भी फोन लगाया तो उन्होंने अपनी महानता और मातृभक्ति बघारना शुरू कर दिया।

रोते रोते तानी के आँख सूज गए। सुमंत लगातार फोन पर बात किये जा रहे थे। अचानक तानी को माँ के वृन्दावन जाने की इच्छा याद आयी। उसने सुमंत को बताया तो सुमंत ने झटपट वृन्दावन की टिकटे बुक कर दीया।

रात को ही ट्रेन वृन्दावन स्टेशन पहुंची। सुमंत और तानी लॉज में ठहरे। तय हुआ अगले दिन सुबह ही माँ का पता लगाने के लिए निकलेंगे। अगले दिन सुबह सात बजे तक सुमंत और तानी लॉज के बाहर सड़कों पर निकले तो वहाँ का नजारा देखकर हैरान रह गए। सड़क के दोनों किनारों पर बूढ़ी विधवाएँ हाथ में कटोरा और कंधे पे झोला लटकाये भीख मांग रही थीं। हाथ फैलाये याचना करते हुए कभी उन्हें पैसे, रोटी, चावल मिलते तो कभी उन्हें घुड़की भी मिलती। पर ये हाल सड़कों का ही नहीं मंदिरों, गलियों का भी था। पसीने से

तर बतर, आँखों पर मोटा चश्मा सफेद साड़ी में लिपटी वृद्धाएँ यहाँ इतनी ज्यादा संख्या में दिखी कि तानी का कलेजा फट पड़ा। उसके जी में आया कि चीखे-चिल्लाये, धिक्कारे उन सभी लोगों को जिन्होंने अपनी माँ को इस हालत में रख छोड़ा है। जिस उग्र में अपनों के साथ की सबसे ज्यादा जरूरत होती है उस उग्र में सड़कों पर दर-दर भटकने के लिए छोड़ जाते हैं।

तानी कई संस्थाओं के ऑफिस गयी जहाँ ये वृद्ध महिलाएं रहती हैं और बाकी बची जिंदगी बिताती है। रात को दोनों निराश हताश थके लॉज पहुंचे। सुमंत खाना लेने कैंटीन चले गए। अकेली बैठी तानी को मातृ वृद्धा आश्रम की स्नेहा जी की बातें याद आ गयी- 'तानी जी, एक माँ अपने सारे बच्चों को अकेले पाल लेती है पर सारे बच्चे मिलकर भी एक माँ को नहीं रख पाते।' तानी के गाल भीग गए।

पंद्रह दिन वृन्दावन में भटकने के बाद भी जब मिताली नहीं मिली तो तानी और सुमंत घर आ गए। सुमंत ने मिताली के लापता होने की खबर पुलिस में दे दी पर कई महीने बीतने के बाद भी कोई खबर नहीं मिली।

सुबह की चाय लेकर तानी अखबार पढ़ रही थी तभी अचानक एक खबर पर उसकी नजर अटक गई।

'एक बस के धक्के से एक वृद्धा की मौत हो गयी। सूत्रों से पता चला है कि वृद्धा का नाम मिताली रॉय है। वृन्दावन के सड़कों पर भीख मांगते हुए सामने से आ रही बस से धक्का लगने पर वृद्धा की मौत मौके पर ही हो गयी।'

तानी के आँखों के सामने वृन्दावन का दृश्य घूमने लगा। कानों में मंदिर की घंटियां बजने लगी और गूंजने लगा।

संपर्क : SACT II, बी. बी कॉलेज, आसनसोल पता-NHS 05/064 रानीसायर मोड़
पोस्ट-सियारसोल राजबाडी, डिस्ट्रिक्ट-पश्चिम बर्धमान (प.बं.), पिन-713358
मोबाइल नंबर-8170852337

विनोद साव

वे कहते हैं कि उनके घोष-वाक्य पर आस्था न रखने वालों को तुरन्त ध्वस्त कर देना चाहिए। कहा कि “विशेषज्ञता की क्या ज़रूरत हमारा तो यह खानदानी पेशा है कि अच्छे-अच्छों को ध्वस्त कर देते हैं.. बाप-दादों के वे जमाने से चला आ रहा है। ध्वस्त करने की सुदृढ़ परंपरा है हमारे यहां। पता भर चलने पाए कि किसे करना है और कब? हम निकल पड़ते हैं.. और काम तमाम करके ही लौटते हैं.. कभी कभी लौटते भी नहीं हैं और ज़रूरत पड़ी तो आगे भी इसी काम से निकल जाते हैं। हमारे ध्वस्त किए हुए लोग फिर कभी खड़े नहीं होते, पानी भी नहीं मांगते हैं.. प्राण छोड़ देते हैं। बोलिए आप कैसे आए? किसी को ध्वस्त करना है?”

उनके घर में एक विशाल बुलडोजर का चित्र टंगा था। मैंने पूछा “इसे यू.पी.से मंगवाया है क्या?”

“हमी ने बनाया है। हमारा बनाया ही यू.पी. में चल रहा है.. और कुछ दीगर राज्यों में भी अच्छा काम कर रहा है, चर्चा है.. आपने भी सुना होगा। ये बुलडोजर हम उन राज्यों को सप्लाई कर रहे हैं जहाँ हमारी सरकारें चलती है। वहां बस हमारी चलती है। और जो चलता है वह बुलडोजर है। बुलडोजर के चलने से यह फायदा है कि वहां न कुछ चलता है न किसी की चलती है।”

“पर लोकतंत्र में इस तरह बुलडोजर चला देना कहां तक न्याय-संगत है? संविधान है, न्याय-प्रणाली है, चुनाव आयोग है सबके अपने काम करने के ढंग हैं। इनके द्वारा किसी को सजा देनी है या किसी को चोट पहुंचानी है तो वह भी लोकतान्त्रिक ढंग से पहुंचानी है। विचारधारा विचारधारा होती है कोई बुलडोजर नहीं कि इसे कहीं भी चला दिया!”

“विचारों और विचारधारा का जमाना गया। अब बुलडोजर का जमाना है। ज्यादा हल्ला करने का नहीं। जहाँ हल्ला हुआ वहां बुलडोजर चला दिया।” यह कहकर वे बाहर खड़े बुलडोजर पर कुछ गैती-फावड़े वालों को लेकर बैठ गए और उस तरफ निकल पड़े जिधर बुलडोजर चलाने का आदेश उन्हें मिला था।

जाहिर है कि आज के इस पेशेवर समय में वे ध्वस्त करने का ठेका लेते हैं.. और इस ठेके में वे, विपक्ष में जी खा रहे लोगों को नेस्तानाबूद करते चलते हैं। वह सब कुछ ध्वस्त कर देना चाहते हैं। बुलडोजर चलाने के बाद बची चीजों की मार से भी उन्हें ध्वस्त करना आता है। वे ध्वस्त करने वाली कई एजेंसियों से जुड़ गए हैं.. और दूसरों का नेटवर्क ध्वस्त कर देते हैं।

ध्वस्त करने का ठेका केवल धर्म और राजनीति में ही नहीं अन्यान्य क्षेत्रों में भी लेने वाले लोग हैं। वे पूछते हैं कि “आपकी गोष्ठी कब तक चलेगी.. आते हैं हम।” वे ऐसे कई कार्यक्रमों में सद्भाव-पूर्वक आते हैं और आपकी व्यवस्था में सहयोग देने के बहाने कुछ सुधार चाहते हैं। जिसमें वे बैठक व्यवस्था में परिवर्तन करवाते हैं “डायस और माइक को किनारे कर दें और श्रोताओं को ऐसे गोल घेरे में बिठा दें कि सब लोग अपनी बात कह सुन सकें ताकि गोष्ठी में ज्यादा लोगों की भागीदारी सनिश्चित हो सके। वे सबसे पहले बोलकर किसी ज़रूरी काम का हवाला देकर निकल जाते हैं। फिर उनके आगमन और जल्दी जागमन

को लेकर आपत्तियां आती हैं..और इन्हें कौन बलाया था की चिल्ल-पो मच जाती है तब पता चलता है कि वे आपका कार्यक्रम ध्वस्त करके जा चुके हैं। यह एक दुर्लभ विशेषज्ञता है जो कभी कभी देखने में आती है।

उनकी नजर मुख्य-अतिथियों पर होती है। अगर आपके कार्यक्रम के अतिथिगण समय पर नहीं पहुँच रहे हैं तो यह अनायास नहीं किसी के सायास उपक्रम का नतीजा है। आपके मुख्य-अतिथि अपहृत हो चुके होते हैं। वे नजरबंदी से छूटेंगे तब ही आपके कार्यक्रम में पहुँचेंगे, आपको कृतार्थ कर पाएँगे। ऐसे मुख्य-अतिथि आते ही कह देते हैं कि “भई देखिए हमारे जाने का समय निश्चित है।” वे घड़ी देखते हैं और जाने की जल्दी करते हैं। वे तुरत फुरत आपके कार्यक्रम के शेड्यूल को धता बताते हुए निकल भागते हैं। उनकी इस विशेषज्ञता से आयोजक इस बात का श्रेय ले जाते हैं कि कार्यक्रम उनका भले ही समय पर आरंभ न हुआ हो पर खतम तो बिलकुल समय पर हुआ है। ऐसे कुछ आयोजक भी होते हैं जो अतिथियों से स्वीकृति लेते समय कह देते हैं कि “श्रीमान जी! विलम्ब से आते समय भी समय का ध्यान रखें क्योंकि हमारा उद्घाटन समारोह समय पर हो न हो पर समापन समारोह का समय तय है।” ऐसे आयोजक किसी भी अतिथि की गौरव-गरिमा को ध्वस्त कर देते हैं।

वे आए हुए अतिथियों के पीछे पड़ जाते हैं और अध्यक्ष की अनमति से कुछ कहना चाहते हैं। अध्यक्ष महोदय कहते हैं कि “महाशय जी आप धाकड़ वक्ता हैं.. और किसी भी सभा में आते हैं तो छा जाते हैं। आपका लोहा सब मानते हैं.. पर सदाशयता पूर्वक विचार करें कि इन मुख्य-अतिथि महोदय को फ्लाइट से आमंत्रित किया गया है। इनके पीछे पच्चीस-पचास हजार का खर्चा हुआ है.. और आप कहीं उनके सामने मुखरित हो उठेंगे तो ये बेचारे तो ध्वस्त हो जाएँगे। कभी कभी बिना पेमेंट वाला लोकल आर्टिस्ट ‘हाइली पेड’ अतिथियों पर भारी पड़ जाता है। ऐसे आक्रामक वक्ताओं से अपने अतिथियों को बचाने का संकट सामने होता है।

एक महाशय विपरीत धारा पर चलने में विश्वास रखते हैं। वे सदैव ध्वस्त होने की मुद्रा में विराजमान रहते हैं। उन्हें देखने से लगता है कि अभी अभी कोई उनके अखंडित व्यक्तित्व को खंडित करके गया है। या किसी

संभावित विनाश का उन्हें पूर्वाभास हो गया है इसलिए स्वयमेव ध्वस्त होने का पूर्वाभ्यास कर रहे हैं। पर ऐसा नहीं है बल्कि वे बड़े साधक हैं और उन्होंने अपनी भाव-भंगिमा को स्थायी ध्वस्तपन से भर दिया है। वे ध्वंसावशेष की चादर ओढ़ते-बिछाते हैं और अपनी साधक मुद्रा में बने रहते हैं। उनकी यह मुद्रा शहर में ध्वस्त करने वाले विशेषज्ञों के लिए एक बड़ी चुनौती है। उनका विलोम रूप खांटी विशेषज्ञों को भी ध्वस्त कर देता है। मैथिलीशरण गुप्त कहते हैं “जय जयकार किया मुनियों ने, दस्युराज यों ध्वस्त हुआ।”

बकौल मुद्रा राक्षस ‘मैं उसे देख लूँगा’ मैं तुम्हें देख लूँगा यह भी एक जुमला है। कुछ लोग यही करतब दिखाते फिरते हैं ‘मैं तुम्हें देख लूँगा।’ लेख लिखकर ध्वस्त कर दूँगा। लोग ध्वस्त होते भी हैं। वे ध्वस्त हो भी गए। वे बच गए वरना वे भी ध्वस्त हो चुके थे।

इस पद्धति के लेखन में कुछ विशेषज्ञों ने बड़ी ख्याति पाई थी। मैंने भी किसी जमाने में कुछ तीर तुक्के छोड़े थे मगर वे जमे नहीं।

वे दिन अदभुत थे साहब। लोग अपना लिखने के बजाय दूसरों का गुंड-गोबर करने में ज्यादा रूचि रखते थे। कुछ लोग तो बकायदा पत्रिकाएं ही इसी काम को सरअंजाम देने के लिए छापते थे। कभी कभी ऐसा भी होता था कि जिसे ध्वस्त किया गया तो वह स्वयं यही काम शुरू कर देता था। ऐसी हालत में वह दूसरों के लिए ज्यादा विपत्ति खड़ी कर देता था।

हाय! वे कैसे अच्छे दिन थे। अब साहित्य में वह आनंद कहाँ ‘लोग सिर झुकाए दर्जियों की तरह शांति-पूर्वक साहित्य के पायजामे सिलते रहते हैं। पहले का वक्त होता तो वे सिलने से ज्यादा दूसरों की सुई तोड़ने या सिला हुआ उधेड़ देने में रूचि लेते।’

वैसे आमतौर पर यह परम्परा समाप्त हो गई है, मगर कुछ महारथी खुफिया तौर पर आज भी इसी का अभ्यास करते रहते हैं। हाँ..अब वे लेख नहीं लिखते बल्कि वहां बदला लेते हैं जहां वे कमेटियों के सदस्य हों। वे बने ही दूसरों को ध्वस्त करने के लिए हैं। अपना निर्माण करने से कहीं ज्यादा दूसरों का ध्वस्त करने पर उनका विश्वास है.. और अपने विश्वास पर वे इस कदर अडिग हैं कि कोई दूसरा उन्हें ध्वस्त न कर सके।

.. और भी हैं पर मैंने तो इस विध्वंस चर्चा में कुछ क्षेपक घुसेड़े हैं।

संपर्क : मुक्तनगर, दुर्ग, छत्तीसगढ़ - 491001 मो. 9009884014

अतीत से अतीतान तब बिनयों की पीड़ा ही मेरी लेखनी का उत्स है।

वंदना गुप्ता

समय की शिला पर, मधुर चित्र कितने

किसी ने बनाए, किसी ने मिटाएं

किसी ने लिखी, आंसुओं से कहानी

किसी ने पढ़ा, सिर्फ दो बूंद पानी।

एक स्त्री को शिला और शिलालेख में फर्क करना मुश्किल है कब उसकी तहरीरें उसके लिए मौत का, श्राप का फरमान बन जाए कहा नहीं जा सकता। उसके हंसने, उठने, बैठने, चलने पर हमेशा नजर रखने वाला समाज कब उसके लिए बंदिशों की सलाखें ईजाद कर दे। ये उनके दकियानूसी सिद्धांतों पर निर्भर करता आया है। गोया स्त्री न हो उनके इशारों पर चलने वाली कठपुतली हो। पर इन सब काराओं को तोड़कर उसने कब अभिव्यक्ति के कारखाने खोल लिए यह उनके लिए सोचने का विषय है। विरोध में भी सृजन करने वाली स्त्रियों ने गर्भ में पलने वाले शिशु से लेकर दुनिया के हर छोटे-बड़े विषयों को अपनी सृजनात्मक क्षमता से नये आकार में ढाला है। चाहे वह लौह से बने पुल की संरचना हो, घर निर्माण की कला, उसका औदार्य, उसका ममत्व, उसका व्यक्तित्व, कलात्मकता सभी से काव्य की सृष्टि होती है और काव्य से आह्लाद की, जो जीवन को ही नहीं सृष्टि को गतिशील बनाता है।

अपने अतीत से समझौता करते हुए अब स्त्रियां अपने लिए नयी जमीन तलाशती आगे बढ़ रही हैं उनका बढ़ना इतना आसान नहीं है न जाने कितनी जिम्मेदारियों को वहन कर वे अपने वजूद को तराशने में लगी हैं। मेरी कविताएं अवचेतन में बसी उन तमाम स्त्रियों के दर्द और संघर्ष की लम्बी यात्रा है, जिनके अन्तर्मन की पीड़ा को मैंने अपनी पीठ पर महसूस किया और शब्द देने की कोशिश की। अतीत के गवाक्षों में यदि हम झांकने की कोशिश करें तो पाएंगे कि हमारे समाज में ज्यादातर दुख, यातनाएं, तकलीफें, जिम्मेदारियां स्त्रियों के हिस्से में आईं। घर, समाज, मजहब के नाम पर उन्होंने बंदिशों को झेला पर हार नहीं मानी अपना रास्ता खुद तय किया।

हमारे समाज में स्त्रियां खुद ही टूटती रहीं। आगत-विगत समय में खुद पर शोध करती रहीं। शास्त्रों, उपनिषदों में अपना वजूद टटोलती रहीं। इतिहास, भूगोल खंगालकर खुद को जानने की कोशिश करती रहीं। इस लम्बी यात्रा में अपना स्वरूप बदलती रहीं। पर आज तक अपनी सम्पूर्ण पहचान कायम नहीं कर पाईं। मेरी लेखनी का दर्द इन्हीं स्त्रियों की पीड़ा है।

स्त्री सफलता का इतिहास

मैंने कब चाहा
ख्वाबगाह में पलते
काल्पनिक सपनों को पूरा करना

सीधे यथार्थ से भिड़ना
ही नियति रही मेरी
पर कैद कर दी मेरी जुझारू फितरतें
रस्मों के इन्द्रजाल में

मेरी उपलब्धियों को
नकारता रहा समाज
मैं रीतती रही कतरा-कतरा
समाज के साथ खुद का
सामंजस्य बिठाने में

देह के दस्तरखान में
खुशक होती रही सांसों मेरी
जवान होते ही कतर दिए गए मेरे पंख
मेरे स्वप्न, मेरी चाहतें, मेरे निर्णय की
निर्धारित कर दी गई सीमाएँ

अब एक तरफ मैं हूँ मेरा यकीन
लामबंद जंग की तैयारी है
और दूसरी तरफ एक खुला आसमान है
मेरी हसरतों के बैचन परिन्दें हैं
मेरा इतिहास है, सजा की तारीखें है

जानती हूँ स्त्री की सफलता का इतिहास अब
सरहद के पार इंकलाबी दाबों से लिखा जाएगा
तभी रंगीन ख्वाहिशें आसमानी हो
मंजिल की पेशानी चूमेगी।

आत्ममुग्धता से परे
बड़ी साफगोई है तुम्हारे कहन में
तुम शब्दों के उबाल में पकने देती हो भावनाएं
और उसके ताप में सृजित करती हो असंख्य कविताएं
तुम्हारे लिए कविता शब्दों का जोड़ घटाव नहीं
भावों का उद्वेलन नहीं
भावों-विचारों का गूढ़ मंथन है
आध्यात्म का गहन चिंतन है
मौन का गंभीर उद्वेलन है।

तुम मौन में तराशती हो
शब्दों के लौह औजार
भावावेगों के सिरों को थाम
कल्पना और यथार्थ के संतुलन में
लिखती हो न जाने कितनी कहानियां
कहानियां तुम्हारे लिए जीवन सत्य के अलावा
जीवन प्रेरणा है जिसके वशीभूत हो
दृष्टा, भोक्ता और प्रस्तोता के अनुभूत सत्य में
तुम सहेजेती हो भावी भविष्य की कड़ियां

तुम साहित्य की सच्ची साधना कर
तराशती हो लेखनी को
निखारती हो मानवीय मूल्यों से उसे
और तारीफ और आलोचना के बीच
करती हो आंकलन खुद के लेखन का
साहित्य की कसौटी पर

इस तरह नित नई विधाओं में
आत्ममुग्धता से परे
सृजनरत तुम कर रही हो मौलिक सृजन
भावी पीढ़ियों के भविष्य के खातिर।

समय की शिला पर

‘टेढ़ी-मेढ़ी पगडंडियां’

हाँ,
इन्हीं टेढ़ी-मेढ़ी पगडंडियों से
जाना है मुझे
चौराहों के बीचों-बीच
गाना है उनकी
मक्ति के गीत
जिनकी आकांक्षाएँ
कैद थी सदियों से
चारदीवारी के अन्दर
जिनके अरमान
नहीं रख सके पैर
घर की चौखट से बाहर

जिनके लिए गढ़े गए
न जाने कितने संविधान
बदिशों के
घर की चौखट से बाहर
दबे पाँव जो निकली भी कभी
अपने वजूद की आवाज पर
लगा दी गई उन पर मुहर
बदचलन, बेहया की

अन्ततः इन्हीं सम्बोधनों ने
पहुँचा दिया इन्हें
मौत के घाट
हां, उन्हीं मौत की घाटियों से
लगानी है मुझे गृहार
उनकी मुक्ति का

जो आज भी विवश है
अपने अरमानों के
कटे पंखों पर
आंसू बहाने के लिए
जिनकी आंखों को
सिर्फ सपने दिखाए गए
बराबरी के दर्जे के
परन्तु लटका दी गई
गर्दन के बीचोबीच

एक दुधारी तलवार
हां, युग बदले
परिधान बदले
विकास भी हुआ
हम भी कुछ हद तक
अपने अधिकारों की
सीमा तक पहुँचे

पर समाज की सोच का
अतिक्रमण नहीं कर पाए
तोड़ देनी है दीवारें
लाघंनी है संकीर्णताओं की चौखटे
बढ़ाने है पाँव मंजिलों की ओर
खोजना है एक जहां अपने लिए

हाँ, इन्हीं पगडंडियों से
गुजरकर जाना है मुझे
सीता की अग्निपरीक्षा की
अन्तर्वेदना तक

जानना है मुझे
यशोधरा के संघर्ष की कथा
उर्मिला, शकुन्तला की
प्रतीक्षा का धैर्य
पति गमन की पीड़ा
विछोह का दर्द

जानना है मुझे
पाषाण में परिवर्तित अहिल्या के
छलावे, श्राप, मुक्ति का संताप
और गुजरना मुझे
पाँच पतियों की अर्धांगिनी
द्रोपदी के चीरहरण के
अपमान भरे आक्रोश से भी।

समय की शिला पर

परिचय

नाम: डॉ वन्दना गुप्ता

जन्म : 16 जुलाई 1966, राठ, हमीरपुर (उ. प्र.)

शिक्षा : एम. ए. (हिन्दी) बी.एड., पीएच. डी.

कार्य स्थल : (वर्तमान में) डॉ राजेन्द्र प्रसाद गर्ल्स हाई स्कूल (उ.मा.) सिलीगुड़ी में अध्यापन

लेखन: 'अस्मिता की तलाश' काव्य संग्रह (2017)

'मयूरपंख ख्वाहिशों के' काव्य संग्रह (2019),

'फिर लौटेंगी स्त्रियाँ' (2020)

'विरह के वितान में' (2020)

1-साझा संकलन 'सदानीरा है प्यार' वरिष्ठ और समकालीन कवियों का साझा संकलन (2021)

2-साझा संकलन 'आकाश की सीढ़ी है बारिश' वरिष्ठ और समकालीन कवियों का साझा संकलन (2021)

3- समकालीन छह कवयित्रियों का साझा संकलन 'दिशाएं गा उठी हैं' (2021)

हिन्दी की प्रतिष्ठित साहित्यिक पत्रिकाओं- दोआबा, आधुनिक साहित्य, भाषा स्पंदन, मुक्तांचल, प्राची, साहित्य त्रिवेणी, पाखी, चौपाल, स्पर्श समकालीन, नयीधारा, प्रस्ताव, आजकल, ककसाड़, जनसत्ता, मधुरिमा, नेपाल से (प्रकाशित पत्रिका हिमालिनी, बहुमत, संवदिया, तिस्ता हिमालय, और अंतरंग इत्यादि पत्रिकाओं में कविताएँ, समीक्षाएं व कहानियां प्रकाशित।

प्रसारण एवं टेलीकास्ट : आकाशवाणी कर्सियांग से कविताओं, वार्ताओं, कहानियों व परिचर्चाओं का नियमित प्रसारण।

खबर समय, एस के लाइव, खबर आजकल, द सन एक्सप्रेस आदि चैनलों पर कविताओं, साक्षात्कारों व परिचर्चाओं का टेलीकास्ट।

स्थानीय देशबंधु मंच पर विभिन्न नाटकों का संचालन एवं निर्देशन।

सम्मान (अवार्ड): ग्रीस (एथेन्स) में आयोजित 17 वें अंतर्राष्ट्रीय हिन्दी सम्मेलन में नये पाठक सम्मान व सुकरात संस्था (एथेन्स) द्वारा सुकरात स्मृति सम्मान।

खबर समय द्वारा कलमकार के अन्तर्गत अभिनन्दन 2018

काव्य संग्रह 'मयूरपंख ख्वाहिशों के' लिए

मैथिलीशरण गुप्त संस्थान (लखनऊ) एवं उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान के संयुक्त तत्वावधान में दिल्ली में आयोजित समारोह में मैथिली शरण गुप्त

स्मृति सम्मान (2019)

सर्व हिन्दी विकास मंच, सिलीगुड़ी प्रदत्त - दिवंगत मोहनलाल जैन साहित्य सम्मान 2021

अनुव्रत विश्व भारती सोसाइटी द्वारा प्रदत्त - अनुव्रत काव्य धारा सम्मान 22 फरवरी 2022

कविता कथा कारवाँ संस्था एवं सी टी युनिवर्सिटी के द्वारा प्रदत्त-सुभद्रा कुमारी चौहान स्मृति सम्मान 2022

महिला काव्य मंच को संस्थागत रूप में प्रदत्त-शक्ति सम्मान दैनिक जागरण 2022

अध्यक्ष :- भारत नेपाल मैत्री संघ, सिलीगुड़ी शाखा।

राजकीय उपाध्यक्ष :- कविता कथा कारवाँ लुधियाना पंजाब (रजि) सिलीगुड़ी चैप्टर।

संपर्क : ड्रीम वैली, ब्लॉक 2, पांचवाँ तल, फ्लैट सी दागापुर,
हिलकार्ट रोड, सिलीगुड़ी, जिला दार्जिलिंग (प.बं.) पिन कोड 734003
मोबाइल नंबर 9434809556, 8250402961
vandnagpt3 @ gmail. Com.

भूना कोना

सुबह-सुबह
एक सपना देखा
एक पुराना चेहरा
अपना देखा

गुम गए कहाँ ?
अतरा देखा
कोना देखा

बक्का फाड़ कर
रौना देखा
चेहरा एक सलोना देखा

सपना टूटा
नींद रूठ गई
फिर दिल का सूना कोना देखा

भरोसे का टूटना

हाथ से छूट कर
कप-प्लेट का टूटना नहीं होता है

बुहारी भी नहीं जाती
वह टूट फूट
चुभती रहती है जब तब

नाउम्मीदी के
किसी रेगिस्तान से उठी रेत
मंडराती रहती है
चुप चुप

और अब आहूँ जी

सूचनाएं
इतनी अधिक हैं
कि ग्रहण-तंतु
किन्हीं अजाने जंतुओं के

हमले से बेहाल हो चले हैं

जैसे कि बेहाल हो चली है
हमारी अर्थव्यवस्था
जैसे कि हाल-फिलहाल
गड्डु-मड्डु हो चले हैं
सारे के सारे विमर्श

भरोसे को जैसे मार गया हो लकवा
न्याय का हो गया जैसे अपहरण

खबरो में साहब जी
साहब जी
और बस साहब जी !

अहसास

गुम हैं बूंदें
उसमें
जो कि जल की
लघुतम इकाई है
मगर उन्हीं की बदौलत
उसकी लंबाई, चौड़ाई और गहराई है

समुद्र को शायद इसका अहसास हो कभी

बारिश हो न हो

बारिश तो ठीक है
बहुत बारिश नहीं हो
अति तो हर्गिज नहीं

वारिस हो न हो
कोई फर्क नहीं

निकल ही आते हैं
शब्दों के सहचर।

कविता

पिता की छाप

पिता पर से
पिता का साया
बे-वक्त उठ गया था

सो पिता नहीं कर पाए थे
आगे की पढ़ाई
शुरू हो गई थी
जीवन की लड़ाई

पिता के पिता थे
जिस नौकरी में
उसे छोड़ आए थे
अपने अफसर को चांटा जड़ कर
अन्याय उन्हें पसंद ना था
ना ही अफसरशाही

फिर रहने लगे थे तनाव में
इसी वजह से चले गए जल्दी
लोग उन्हें गुस्सैल कहते थे
पिता पर भी उनकी यह छाया थी

पिता के पिता गए तो
पिता को पकड़ना पड़ा हथौड़ा
तोड़ने पड़े कोयले
झोंकने पड़े कोयले
ईजन की करनी पड़ी सफाई
और फिर दौड़ाने लगे रेलगाड़ी
कोयलेवाली, डीजलवाली, इलेक्ट्रिकवाली

बस आठवीं तक की थी पढ़ाई
मगर अंग्रेजी में लेते थे नोट
अपनी ट्रेनिंग के, दूसरों की भी करते मदद

पिता चाहते थे कि
उनके बच्चे उनसे ज्यादा पढ़ें
और अपने पैरों आगे बढ़ें
इसलिए पढ़ाई को लेकर
करते खूब कड़ाई
साथ ही जमकर कुटाई
(तबके दूसरे पिता भी इसी तरह
बरसाते थे प्यार)

पिता हमारे लिए
जितने कठोर थे
उससे कहीं ज्यादा उदार
दोस्त, यार, पहचान वालों के लिए

क्या लकड़हाड़े, क्या नाई, क्या सफाई वाले
चाय-नाश्ते के बगैर कोई लौट नहीं सकता था
कर्ज को मदद मानकर भूल जाते थे

मगर खुद किसी के सामने
हाथ पसारने से करते रहे परहेज

पिता कुछ तो छाप छोड़ ही जाते हैं
दुखी पुत्र भी खुद में पिता को मौजूद पाते हैं

लाजमी

वे इधर
और
ये उधर
हो रहे हैं
मिलजुल कर
दोनों
कोने कोने में
मन के
अविश्वास बो रहे हैं

कविता

रोप रहे हैं
हास्य
करुणा
विद्रूप
उपज घृणा की
लाजिमी है !

और उसके फसाने अनेक.....

एक ही चाँद था
और जाने कितने ही
फसाने थे उसके...
उसका मुँह
टेढ़ा था
दागदार था
उसका चेहरा
फिर भी
था वह सलोना
कुछ रोटी का सा था
मुखड़ा उसका
वह मामा था
उसे मातायें पुकारती थीं
वह सोने की कटोरी में
दूध -भात लाता था
बच्चों को थपकी देकर सुलाता था
वह बहुत बड़ा प्रेमी था
नदियों में डुबकी लगाता था
झील में जुल्फें संवारता था
वनों से सुगंध एकत्र कर
कहीं दूर निकल जाता था
चाँदनी का हाथ थामे
उधर कोई चकोर
आहे भरता रह जाता था
मालूम नहीं

कि उसे यह मालूम था या नहीं
एक ही चाँद था
और उसके फसाने अनेक...

क्षिलक्षिला

ये विदा देने को आतुर तारे
यह अलसाई सुबह
यह स्टोव का आलाप
वह पानी का संगीत
वह पोखर का छप-छप
यह खटपट, वह भड़भड़
चल भाग, निकल
यह आटो, यह रिक्शा
यह स्टेशन, वह लोकल
वे वेंडर, वे सब्जीवालियां
वे फेरीवाले, वे कामवालियां
वोह, यह तमतमाया सूरज
वह पगली बदली
वह बददिमाग अंधड़
हाय री भूख
हाय घर-बार
वह चंदे का थप्पड़
वह वसूली की लाठी
क्या बाजार, क्या स्टेशन
यह शाम कितनी जल्दी घिर आती है
यह जिस्म तो जैसे बेजान हुई जाती है
यह रात हसीन होती ही नहीं
अलसुबह झंकझोर देती है
फिर वही सिलसिला

संपर्क : शैलेंद्र शांत, द्वारा, आरती श्रीवास्तव, जीवनदीप, तीसरी मंजिल, 36, सबुज पल्ली, देशप्रियनगर,
बेलघरिया, कोलकाता-700056, मो-9903146990

चुनाव

वह हमें अपनी चोंच में थामे उड़ जाता
 किसी चिड़िया की तरह
 कहीं भी गिराता है वह हमें
 नदी-नाला
 पर्वत-पठार
 जमी-मैदान
 यहां तक कि
 छत-दीवार
 गिराने का चुनाव उसका है
 अपना चुनाव तो
 पनपने-खिलने-खुलने में है
 यह चुनाव ही तय करता है
 कि
 मंजिल नियति की है या हमारी।

चल पेड़

हज़ारों की तादाद है इन चल पेड़ों की
 भूख और महामारी
 धूप वर्षा आंधी और अंधेरा
 क्या यही किस्मत लिखेंगे हम?
 नहीं खोजेंगे
 जुगाड़ेंगे नहीं उनके लिए
 कोई मिट्टी?
 कोई खुरपी, कोई कुदाल
 झारी कोई या कि खाद - खुराक?
 अगर नहीं
 फिर भी क्या हम समर्थ कहलायेंगे
 बिना इनके हैं क्या हम समर्थ?

हम बीज की तरह गिरे अपने कर्मों की माटी में
 वहीं अंकुरें
 वहीं पनपें
 पत्तों से घिरें
 फलों से लदे
 और उन्हें खाएं
 चिड़ी-चुनमुन
 बच्चे-जवान-बूढ़े
 और जगत।

सवाल

हम क्यों जी रहे हैं
 सवाल यह जरूरी है
 खुद से रोज ।

छच्चा

जीवन को एक मकसद देता है
 जीवन अगर अंगूठी है
 तो वह नगीना होता है
 वह न क्षते
 न छीजे
 न गिरे
 न खोये
 यही एक इच्छा
 जगत के साथ
 किये होती है गठबंधन

कविता

जीने का झणझ

जीने का सबब ढूँढें
है बहुत जरूरी
कर्मों की माटी खोजें
बीज की तरह गिरे उसमें
है बहुत जरूरी
पके हैं
तो गिरते रहें
भूखों के बीच
उनकी तृप्ति की
बहे हवा
है बहुत जरूरी

प्रेम

प्रेम माटी में गिरा एक हीरा
दिख जाता हठत कभी
उसे पाने की होती है बड़ी चुनौतियां
झंझा-तूफान
बवंडर कि चक्रवात
चूकते नहीं आने से
फिर भी तीव्रता इच्छा की
दृढ़ता संघर्ष की
दिशा नियति की
मिल जाता वह
संयोगवशात कभी
तो डिबिया में बंद कर रख देते इसे
फिर लग जाते
हजारों कामों में
उपलब्धियों का संसार सजाने में
कूड़ा -करकट
एकत्र करने
उन्हें मकसद बनाने में
खुशियों के तमाम आगारों में
खोये खोये
हम भूल ही जाते

उस लोंकर को खोलना
जहां रखा है हीरा हमने
हम भूल ही जाते कि
वह खान से निकला कोई बेजान टुकड़ा नहीं
जीवंत है
और पूरी जिंदगी
तरासे जाने को है बेताब
मंजूषा याकि लोंकर में तो
अक्सर उसका दम ही घुंट जाता है
और
हम महसूसते
रूह का रूह से तारझ ही न हुआ
पर पूछना है जरूरी
सबब जमाने का जहर है
या दंश अपना?

पृथ्वी दिवस

धरती-आकाश
हवा-पानी
सूरज-चाँद
नखत-सितारे
कृतघ्न नहीं है
कृतज्ञता उड़ेल उड़ेल
मना रहे पृथ्वी दिवस
पेड़-पौधे
पत्ते-फूल
कलियाँ-फलियाँ
नहीं दिखते कृतघ्न
कहीं से
कृतज्ञता उड़ेल उड़ेल
मना रहे पृथ्वी दिवस

कविता

कोयल-डोयल
बुलबुल-खंजन
तोता-बया
श्यामा-दहियल
सब गाते हैं
मानो अभ्यर्थना करते
कृतज्ञता उड़ेलते

मना रहे पृथ्वी दिवस

नदी-नहर
सरिता-समुद्र
पोग्र-कुआं
अंजुली-घड़ा
सबका मन भरा
कृतज्ञता के गीत गाते

मना रहे पृथ्वी दिवस

हवा-वायु-पवन
अपनी गति से
मंदिर-सी
सुगंध से
सरस-परस से
उपजा रहे कृतज्ञता-
के स्वर

मना रहे पृथ्वी दिवस

आदमी लिख- पढ़ रहा
सभ्य-सुसंस्कृत है
इस अहसास का
बिगुल बजा रहा
मन में कालिख
मुंह में गाली
हाथ में हथियार

घृणा की हद
नृशंसता की हद
जघन्यता की हद
दरिंदगी की हद
तिमिरावर्ती उत्सव में
अपने अस्तित्व की पताका
गाड़ते
कृतघ्नता का पर्याय बनते
त्वर में धरती-आकाश
माप रहा
एक बना रहा दोनों को
अहंकार यह जीता
सर्वश्रेष्ठ जीव का तमगा खोते हुए
सिद्ध कर रहा हर पल
वह धरती पर रहना 'डिज़र्व' नहीं करता
हक नहीं रखता
नहीं रखता।

पीला पत्ता

जिस प्रेम के पात्र को पाने के लिए
करते हैं हम कितने ही स्वजनों से तकरार
तोड़ते हैं कितनी ही खिड़कियां
लांघ जाते हैं कितनी ही जिद्दी दहलीज
खोलकर कितने ही सख्त दरवाजे
पर पाकर उसे बैठ जाते हैं
राहत के पीपल तले
पर धीरे-धीरे इस अनमोल को
हम लॉकर में बंद कर देते हैं
जहां इसकी कीमत बिल्कुल ही नहीं बढ़ती
इसकी चमक बिल्कुल धूमिल सी हो जाती
इसका लावण्य बिल्कुल उड़ जाता है
सच तो यह है कि इसकी सांसे बिल्कुल
हां बिल्कुल छोटी हो जाती है
जीवंतता का बस भरम भर रह जाता है
पेड़ का पीला पत्ता हो जाता है।

संपर्क : मंजु रानी सिंह, प्रिंसिपल, विश्वभारती, शान्तिनिकेतन, प.ब.

मो० 9434326334

सटा लिया उसने
 ठिठुरती हुई उस कंकालसार नन्हे-से देह को
 अपनी छाती की गर्माहट से
 ढका उसे
 अपने फटे-मैले आंचल से
 मला उसकी नन्ही हथेलियों को
 अपनी धूल-भरी, खुरदरी हथेलियों से
 चूमा उसके तपते हुए नन्हे-से माथे को
 अपने फटे-शुष्क होठों से
 उठा लिया उस हल्के-से देह को
 अपनी गोदी में
 बर्फ बन चुकी रात की सड़क से
 और मांगा दुआ में मालिक से
 कि
 बेघर गरीब माँ की ज़िंदगी में कभी
 दिसंबर न दे।

चित्रों का एक अल्यम

तुमने कहा, 'मुक्ति'।
 मेरे मानस पटल पर एक दृश्य उभरा—
 कोहरे को चीरकर निकलती हुई धूप।
 धूप से चमकते पत्ते, सड़कें और तालाबें।
 मैंने कल्पना-पटल से उतारा उन्हें कैनवास पर

और जोड़े उनमें कुछ नए तत्व,
 नए दृश्य और नए रंग।
 तालाब को रंग दिया लाल।
 भर गया वह
 गुलमोहर की टूटी पंखुड़ियों से!
 तुमने कहा, 'प्रेम'।
 मेरे मानस पटल पर एक दृश्य उभरा—
 हरी पत्तियों की नर्म देह को चूमता ऊष्म धूप।
 भूरी लचीली धूल को छेड़ता-भगाता अलमस्त पवन।
 मैंने कल्पना-पटल से उतारा उन्हें कैनवास पर
 और जोड़े उनमें कुछ नए तत्व,
 नए दृश्य और नए रंग।
 वृक्षों को रंग दिया नारंगी।
 भर गए वे
 पलाश के फूलों से!

तुमने कहा, 'उत्सव'।
 मेरे मानस पटल पर एक दृश्य उभरा—
 पीली साड़ी-पीले कुर्ते में नृत्य करते नर-नारी
 और मुख से गाते फागुनी रवींद्रसंगीत।
 मैंने कल्पना-पटल से उतारा उन्हें कैनवास पर
 और जोड़े उनमें कुछ नए तत्व,

कविता

नए दृश्य और नए रंग।
आकाश को रंग दिया गुलाबी।
भर गया वह गुलाल के छींटों से।
तुमने कहा, 'आशा'।
मेरे मानस पटल पर एक दृश्य उभरा—
फुटपाथ पर पड़े,
ठिठुरती हड्डियों में ज़रा सी राहत।
कंकालसार नंगे बदनों में हल्की गर्माहट।
फटे-सूखे होठों पर नमी और मुस्कान।
मैंने कल्पना-पटल से उतारा उन्हें कैनवास पर
और जोड़े उनमें कुछ नए तत्व,
नए दृश्य और नए रंग।
फुटपाथ को रंग दिया पीला।
भर गया वह
अमलतास की टूटी पंखुड़ियों से।

फिर सजाया सारे चित्रों को एक अल्बम में,
और उसका नाम रख दिया 'बसंत'।

दृश्य

कुदरत पर नज़म लिखते हुए
दो बूंद आँसू ढलक पड़े कागज़ पर।
कागज़ ने बूंदें सोख ली।
मैंने महसूस—
यही कागज़ की फितरत है,

जो पाई है उसने अपने पूर्वज
दरख्त से।
दरख्त, जो हर रोज़ सोखता है
प्रकृति के आँसू!

भाषाएँ

भाषाएँ, मानव-सभ्यता की धरती पर उगे
किसी फूलदार पौधे पर लगे फूल जैसी होती हैं।
सभी सुंदर,
सभी खिली हुई,
सभी रंगीन,
सभी महकती हुई।
सभी मिलकर उस पौधे को
खूबसूरत बनाती हैं।
पर जब भी उसका कोई फूल असमय झड़ जाता है,
पौधे को बहुत दर्द होता है।
हर बार एक-जैसा दर्द!
उस पौधे को हमें दर्द से बचाना है,
उस पौधे को हमें सींचते रहना है।

ठिठकना

दफ़्तर जाते हुए कुछ देख कर ठिठकी।
ठिठकना अच्छा लगा,
कि कितने अरसों से पैरों ने आराम न किया हो जैसे

कविता

कि कितने बरसों से आखों ने निहारा नहीं हो प्रकृति
जैसे कि
यह सामने पड़ा
बड़ा-सा पत्थर
और
उसके नीचे दबे हुए
हरी दूब
बड़ी मुश्किल से सिर उठाते
कुछ नर्म पौधे।
मुझे अपनी जिम्मेदारियाँ
और
भुलाए हुए शौक-सपने
याद हो आए।
फिर याद आया दफ़्तर के लिए देर हो रही है।
ठिठकना बुरा लगा।

आठवीं

समाज-व्यवस्था-परिस्थिति से
लड़ने वाले
हर व्यक्ति के हाथ में
कलम और माईक नहीं होता।
किसी के पैरों के नीचे होता है रिक्शे का पैडल,

किसी के पीठ पर होता है कूड़े का बोरा,
किसी के सिर पर होती हैं ईंटें,
तो किसी के हाथ में कुल्हाड़ी-फावड़ा-हथौड़ा।
ये लड़ते हैं जंग,
अपने इन्हीं हथियारों से—
कभी लू के खिलाफ़;
कभी आँधी-तूफ़ान-बरखा के खिलाफ़;
कभी भूख के खिलाफ़
और हर रोज़ गरीबी के खिलाफ़ !
ये करते हैं बगावत
हर साल,
हर महीने,
हर दिन
और तब भी,
जब समाज के तथाकथित विद्रोही-बुद्धिजीवी
मोर्चों में चल लेने के बाद
या
मंच से माईक पर
इनके के लिए गला फाड़ लेने के बाद,
हो जाते हैं कैद
अपने आलिशान फ्लैटों के वातानुकूल कमरों में !

संपर्क : एस.आर.एस घराना, दोमुहान, गया दोभी रोड, पिन कोड - 824231 मोबाइल - 9903270093

विडंबना

मोची जो गांथते रह जाते हैं
 औरों के जूते और चप्पल
 सारी सारी जिंदगी
 खुद के लिए
 कभी एक जोड़ी
 सस्ती सी चप्पल भी
 ले नहीं पाते
 बना नहीं पाते।

बुनकरों की पत्नियों के नसीब में
 नहीं होती रेशम या
 तांत की खूबसूरत साड़ियां
 वे लपेटे रहती हैं
 कामचलाऊ मामूली सूती धोतियाँ।

तमाम जिंदगी
 औरों के लिए छोटे बड़े
 हर तरह के घर-मकान बनाने वाले
 मजदूर और मिस्त्री
 कभी अपना सर छुपाने के लिए
 एक छत तक तैयार
 नहीं कर पाते।

यह कैसी विडंबना है, कैसा परिहास
 भोले कामगारों के साथ
 कि वे औरों के लिए
 खुद करते हैं
 जो खुशी खुशी
 उन्हें कभी क्यों नसीब नहीं होता।

चिड़िया और हम

छोटी सी चिड़िया
 अपनी नन्ही सी जान के साथ
 बांट आती है अपना प्यार
 सरहद पार
 और हम प्रबुद्ध जन
 सारी बुद्धि व ज्ञान के साथ
 अपने ही देश में
 जुटे रहते हैं
 एक दूसरे को नीचा दिखाने
 और टांग अड़ाने में
 अपनी सारी काबलियत
 झोंक देते हैं हम
 दूसरों को गलत
 सिद्ध करने में।

हम बर्दाश्त नहीं कर पाते
 दूसरों की उन्नति
 नहीं देख पाते
 दूसरों का ऊपर उठना
 हमारी सोच इतनी तंगनजर है
 कि अपने स्वार्थों के अलावा
 हमें कुछ नजर नहीं आता।

कविता

आजादी का अर्थ
हमें समझ आया नहीं
अधिकारों की बात ठीक है
कर्तव्य हमें भाया नहीं
तो फिर क्या करें
जीवन क्या ऐसे ही जिएं
करते रहें केवल विलाप
बैठे रहें पालके संताप
या जीवन को फिर से रचें
करें फिर फिर प्रयास।
हां आओ करें
और भी प्रयास।

चित्रियाँ

स्त्रियों के ऊपर
जब गिर रहा होता है दुख
पहाड़ सा
वे पछाड़ खाकर गिरतीं नहीं
वे जब गिरती हुई दिखती हैं
तब भी संभल रही होती हैं
अंदर और भी मजबूत हो रही होती हैं।
वे झुकी हुई गरदन और
भीगी हुई आंखों के साथ
अपनी रीढ़ और भी सीधी
और भी सख्त
कर रही होती हैं।
वे चलती हैं सधी हुई चाल से
लड़खड़ातीं नहीं।
वे अक्सर तमाम तरह के छल-छद्म से
बचाकर रखती हैं खुद को।

वे जो भीगी बिल्ली सी
रहती हैं तमाम उम्र
जस्ूरत पड़ने पर बन जाती हैं शेरनी।
हालांकि वे पुरुषों सी शक्तिशाली नहीं होतीं।

मुखर्जी साहब की माँ

आज सुबह उठते ही
एक मनहूस खबर मिली
पड़ोस के मुखर्जी साहब की माँ
नहीं रहीं।

आंखों से
बेसाख्ता आंसू निकल पड़े।
मुखर्जी साहब से बस
दुआ-सलाम-भर का रिश्ता है।
और उनकी माँ से तो
और भी कम
इक्का-दुक्का
मुलाकातों का ही नाता था
तो फिर ये आंसू
क्या उनके लिए ही निकले
या उनकी माँ की मृत्यु में
मेरी माँ की मृत्यु भी
शामिल हो गई।
और मेरी माँ और उनकी माँ
मिलकर एक हो गईं।

पिता की पुरानी साइकिल

आज घर के पिछवाड़े
पड़ी है पिता की
पुरानी साइकिल।
नई आई बहुओं

कविता

और कम उम्र बच्चों को
समझ में नहीं आता
कि इस पुरानी
साइकिल को क्यों
फेंक नहीं दिया जाता
बेकार पड़ी है आखिर कूड़ा बनकर।
लेकिन, वे नहीं जानते
कि पिता का रथ
उनका गुस्सा थी यह
उस जमाने में खाने और
तमाम जरूरत की चीजों में
न जाने कितनी
कटौती के बाद
खरीद पाए थे
वे यह साइकिल।
वे इसको चलाते हुए
जब मुहल्ले में निकलते
लोगों की आंखों में प्रशंसा देख
उनकी आँखें चमक उठतीं
वे खुश होते कि इसे खरीदने का
उनका निर्णय सही था।
मैं जब छोटी थी तो

अगले डंडे पर कपड़े की गद्दी बनाकर
बड़े संभाल कर मुझे बिठाते
और पीछे कैरियर पर
दीदी को।
धीरे-धीरे साइकिल पुरानी हो गई
नए-नए मॉडल की साइकिलें आ गईं
पर हमारे बड़े होने के साथ ही
खर्च बढ़ते गए
और पिता बेहतरीन साइकिल चलाने के
अपने शौक को
सीमित आय में बनाए न रख सके।
हम भाई-बहन समझते हैं
इस साइकिल की कीमत
पर बच्चे क्या जानें।
आज ही घर में
एकमत से फैसला लिया गया है कि
साइकिल फेंकना नहीं है तो न सही
किसी गरीब को दे दी जाए
वह चला सके तो चलाए
वरना साइकिल का जो करना चाहे करे
उसकी मर्जी।

संपर्क : मो० 9674986495

प्रेम

मैं पाषाण हूँ
तुम भी मोम नहीं
पाषाण बनो।

छुना वासना
दूरी भी तो प्यार है
रहो निडर

जहर खाना
जरूरी था याद में
मिला ही नहीं

जो एहसान
किया था शान से
मैंने लौटा दी।

मैं नहीं मिला
जो मिला प्यार था
बाकी वहम

मैं लिखा जहाँ
लिखकर मिटाया
मिटा ही नहीं।

बुलाती रही
आंखों की पुतलियाँ
गया ही नहीं

आंखों में आँधी
जिगर में तूफान

स्का ही नहीं।
खुश रहना
गम से हो बेगम
भले जा कहीं।

जो कुछ मिला
खिला मन दोनों का
मिला न सही
सब देकर
ना पाया तेरा मन
सब बेकार

वो राधा नहीं
वो कान्हा भी नहीं
सिर्फ प्यार है।

तेरा वहम
कभी न हुआ कम
थे हमदम।

आ गहराई
नाप लें मिलकर
डुबकी लगा

तू दरिया हो
मैं जलंधर नहीं
कुछ बूंदें हूँ

प्रेम दिवस
जरूरत तो नहीं
मनाओ रोज़

कविता

रेल की दोस्ती
शैशव का प्यार
निस्वार्थ था ।

प्रेम नदी हो
बहती रहो सदा
सूखना मत ।

जो एहसान
किया था शान से
लौटा दी मैंने ।

मैं नहीं मिला
जो मिला प्यार था
बाकी वहम

खुश रहना
गम से हो बेगम
भले जा कहीं ।

ऊर्जा

मुझमें ऊर्जा
तुझमें भी है ऊर्जा
बचाओ ऊर्जा ।

सौर ऊर्जा है

ऊर्जाओं का स्रोत

नमन उसे

नया आशीष

ऊर्जावान बनिये

मस्त रहिए ।

प्रगति पथ

होगा सुगम तेरा

यदि ऊर्जा है ।

नया जुमला

ऊर्जा होगी जिसमें

वहीं है जिंदा

ऊ से ऊंट का

अब गया ज़माना

ऊर्जा पढ़ाना ।

ओम में ऊर्जा

है व्योम में ऊर्जा

ऊर्जा ही ऊर्जा ।

संपर्क : कोन्नगर, हुगली, पश्चिम बंगाल
मो० 9874571324/7355287591

तुम विदा ले रहे थे
 सामान गाड़ी में रखा जा चुका था
 छोटे भाई थे तुम्हारे।
 चरण छूने को झुके भाई के कंधों को
 तुम्हारी आँखों ने ही थाम लिया था।
 एकदम बढ़कर फिर यथावत
 तुम मुड़कर खड़े थे।
 आँखें, मिलने से बचते हुए भी
 गड़ी थीं भाई की ही आँखों में
 'चला, पहुंच के बताइब' स्टेटमेंट जैसे इन शब्दों से
 बहुत ज्यादा बोल रही थीं तुम्हारी हथेलियां
 जिनसे बड़ी ही मुलामियत के साथ पकड़ रखा था तुमने
 अपने भाई का हाथ।
 अगले ही पल/तुम बैठ रहे थे गाड़ी में
 पर तुम्हारा मैं
 अतीत के किसी गिरे फंदे के खिंचाव में
 स्वेटर सा उधड़ता ही जा रहा था।
 खिड़की से
 छूटते भाई को न देखकर
 तुम संजीदगी से
 अपने भीतर उन्हें छू रहे थे.....
 'अस्वस्थ है भाई मेरा!
 पैरालाइसिस का अटैक था
 शुरुआती चिकित्सा लखनऊ में हुई थी
 मैं तब वहीं था
 यहां आकर अब थोड़ा सम्भला हूँ
 अब तो धीरे-धीरे चलने फिरने भी लगा है!'
 अब तुम चुप थे
 जैसे तय कर रहे हो
 कि अभी और, कितना चलना

कविता

चाहते हो भाई के साथ
भाई के लिए!
तुम्हारी धोती, मैं घुटने के ऊपर
खोंच लग गई थी
जिसकी ओर से तुम बिलकुल बेखबर थे।
मन किया सूई धागा लेकर रफू कर दूँ उसे
याद आया कितने कम लोग बचे हैं
धोती कुरता के पोशाक वाले।
पिताजी भी धोती कुरता ही पहनते थे
कभी किसी खोंच लगी धोती को नहीं पहनते
कितनी तो धोतियां रखी रहती थीं
सब मिली हुई।
याद है एक बार कॉलेज जाते समय
बस में पिताजी की पॉकेट कट गई थी।
कुरता में दोनों बगल नीचे
हाथ की रेंज में दो जेबें रहतीं
और ऊपर बायीं तरफ बिल्कुल बुशर्ट की तरह
ऊपर नीचे, दो जेबें।
नीचेवाली जेब को जेबकतरे ने इतनी खूबसूरती से
काटा था, कि न तो ऊपर जेब को जरा सा
नुकसान पहुंचा था और न ही
पिता जी को कहीं खरोंच भी लगी थी।
किसी पेंटर की कूची के स्ट्रोक सा
एकदम साफ और परफेक्ट!
मैंने ही उसे बाद में सिला था
उस समय मैंने नया नया रफू करना सीखा था
वह एक इतना सुंदर था कि देखते मन अघाता ही नहीं
जैसे भीतरी जेब में नन्हें लौंग फलों की
पतली सी टहनी चिपका दी गई हो
मैं कोई पहली बार, थोड़े ही तुमसे मिल रही थी
पहली बार तो तुमको परिषद के
कार्यालय कक्ष में ही देखा था।
बेहद ज़हीन और गहरे धंसती आंखों वाली दृष्टि

महीन होठों से छूटती सफेद कांस के फूलों की उजली हंसी!
जितनी भी बार मिलते
लगता पहली बार मिल रहे हैं.....
ऐसा तुम्हारे पूछे सवाल मुझे आभास कराते!
लेकिन आज ऐसा नहीं हुआ
प्रतीक्षा ने स्मृतियों पर लगे जाले को बटोर दिया था।
इस बार तुम पूछ नहीं रहे थे
अपितु कहकर तसल्ली कर ले रहे थे –
कि मेरी बेटी मेडिकल कर रही है
कि बेटा डॉक्टर बन गया है
कि मेरी सास अब नहीं हैं
कि उनकी बातें अभी भी तुम्हें याद हैं
वगैरह! वगैरह!
गाड़ी हावड़ा ब्रिज से आगे बढ़ रही थी
पुल से उतरते बाईं तरफ की सजी दुकानों में
बेतहाशा भीड़ थी!
सड़क किनारे के लैंप पोस्ट
गिरती पीली रौशनी को थामें
चुपचाप खड़े थे।
डलहौजी के निकट पहुंचते ही, तुम्हारी स्मृतियों के
कई जंगले एक साथ खुल गए.....
इन्हीं गलियों में
दौड़ते भगाते बचपन के न जाने कितने किस्से
तुम्हारे मन की कोठरी में संदूक भर भर रखे हैं!
रघुमल आर्य विद्यालय की कक्षाएँ
खट्टर मास्टर के व्यक्तित्व का दबदबा
बड़का भइया के साथ का हमजोलीपन
सबकुछ तिर रहा था तुम्हारे चेहरे पर
सुधियों के टिमटिमाते जुगनू
भटकैया के श्वेत बैंगनी फूलों की तरह
खिलखिला रहे थे!
अब हम मां माटी मानुष के
मां ब्रिज की ओर बढ़ रहे थे

कविता

गंतव्य की ठीक ठाक पहचान न हमें थी न तुम्हें।
शाम के धूसर अंधेरे में
कतारबद्ध पीली रोशनियों के खंभे
हमारे साथ साथ चल रहे थे।
यह सचमुच एक लांग ड्राइव जैसा एक्सपीरियंस होने
जा रहा था!
एक बहुत ही चहेते व्यक्तित्व के पार्श्व में
खाली सड़क पर चलते जाना
किसी रेशमी तिलिस्म से कम न था!
फिर तुमने थाम लिया एक सिरा
मेरे भाई बहनों के नाम का
'अच्छा!' बस इस एक शब्द से ही
छलक पड़ा था मन का मधुकलश!
कितना मुखर लगा था।
बहुत आत्मीय और शायद बेहद घनिष्ठ भी!
और फिर, तुमने कहा –
'मैं जो यहीं रहता हूँ ना
यह भी मेरे उसी चाची का घर है...था....
जो वास्तव में मेरी मौसी थीं
अब नहीं हैं वे.....'
उनकी ममतामयी स्मृतियां
ऐलोवेरा की मोटी मखमली पत्तियों सा
गुदगुदी सहलन से सहला रही थीं तुम्हें
तुम कहे जा रहे थे –
'मेरी मां तो हमेशा मायके ही रहतीं
बड़ी जो थीं
छोटी पर डपट भरा रुआब चलाती थीं
मौसी चाची बनी हम सभी
भाई बहनों की देख भाल करतीं....'
अचानक तुम मुड़े
'और यह भाई मेरा
उन्हीं चाची यानी मौसी का बेटा है....!'

नहीं समझ पाई मैं
कि भाई में चाची मौसी की याद है, या
चाची मौसी के साक्षात का
भाई झीना दर्पण!
एक बार फिर तुम बैठ गए थे
अपने बचपन की दालान में
दौड़ लगा रहे थे कच्चे पक्के आंगन
ओसारे की कर रहे थे प्रदक्षिणा!
हठात तुमने पूछा
'और तुम्हारा जन्म किस वर्ष का ?
स्कूल और कॉलेज यहीं कलकत्ते में ?
यूनीवर्सिटी तो चलो पता ही है.....'
विधान सरणी के ऊपर
श्रीमानी मार्केट के पास
अपनी फेसबुक पर कई छोटे छोटे
मंदिरों की आकृति में सजी
गहरे लाल रंग की इमारत तिर आई!
साथ ही स्कूल पहुंचते रास्ते के हर मोड़
आस-पास की न जाने कितनी दुकानें
जिनसे न जाने कितनी बार रबर पेंसिल कॉपी
और टॉफियों की शॉपिंग की थी.....!
बाई-पास की चमचमाती सड़क पर
रोशनियों के झरने में भीगती नहाती
कोई पर फिसलती सी गाड़ी की पिछली सीट पर
तुम्हारे पास बैठ कर
मैं देख रही थी तीस पैंतीस वर्ष
पहले की एक लड़की को!
सफेद फ्रॉक, लाल बेल्ट, सफेद मोजे और काले
जूते पहने, बालों में दो लाल फीते के फूल बांधे
उसे अपने आप को
राम जी दरवान से 'दरवान जी नमस्ते'
कहकर स्कूल में दाखिल होते!

कविता

कहां तुरंत जा पाती थी क्लास में
जब लेट होता तो नीचे ही आंगन में
देर से आने वाली लड़कियां कतार से खड़ी रहतीं
'बड़ी बहन जी' आतीं सबसे देरी का कारण पूछतीं
तब कहीं जाकर क्लास में जाने मिलता।
कतार में खड़े खड़े मैं अपने हाथ के नाखूनों में
लगे आटे छुड़ाती....!
'बड़ी बहन जी' शायद भांप गई थीं
कि हमारी मां हमारे साथ यहां नहीं हैं
कि हमें घर के सारे काम करने होते हैं
कि हम और लड़कियों की तरह
लेट होने के लिए लेट नहीं होते! और वे
हमारे साथ सबको बिना कुछ डांट फटकार के
भेज, देतीं क्लास में।
'रघुमल आर्य! हमारा स्कूल भी तो वहीं है!'
शायद उस समय तैर रही थी
तुम्हारी आंखों में भी
एक पुरानी सी इमारत!
तुम भी देख रहे थे किसी
दुबले-पतले-शांत-गम्भीर
वृद्ध के चपल शैशव की
कोई चटख कहानी!
'और आनर्स तो मैंने जालान से किया।'
'जालान में!' तब तो झा जी से पढ़ा होगा तुमने?'
झा जी को देखा जरूर था पर पढ़ा नहीं
उसी वर्ष वे रिटायर हो गए थे जब मैंने दाखिला लिया।
हां शुक्ला सर, माधुरी मैम, विमला मैम की कक्षाएं
हमने की हैं।
फिर कितनी ही देर होती रही थीं हमारी बातें
डॉ कुशल सिंह और प्रधानाचार्य डॉ इन्द्रावती सिंह
को याद कर!
'उस समय तो इला भी वहीं पढ़ाती थी'

पीछे छूटी दुनिया का न जाने कितना कुछ
जो बंद है सबसे बड़ा खजाना बनकर
इस मन की नन्हीं डिबिया में
कपूर सा मकहने लगा था!
महासागर के तीर जाल समेटे मछुआरे सा
खाली हाथ फिसलती मछली सा
टकटकी लगाए ताकती गहरी नीलिमा को
छटपटाती ओस की हुलास लिए
चमक कर बुझी कौंध सा
कितना कुछ एक साथ
गड़गड़ जाले सा फैल गया था
तुम्हारी आंखों में!
खुला प्रशस्त ललाट सा बरामदा
उभर आया मेरे जेहन में
समय जैसे रिवाइंड-फिल्म-रील सा द्रुत
भाग रहा था पीछे!
छोटा सा हिन्दी विभाग का स्टॉफरूम
वहां काम करने वाली नंदा मासी
विभाग की दीवार पर टंगा टाइम टेबल!
जिस पर प्रोफेसरों की फेहरिश्त में
उनका भी नाम था
लेकिन हमारी एक भी कक्षाएं नहीं हुई थीं
सुना था वो उस समय बहुत बीमार थीं
और उसके बाद तो उनको तब जाना
जब उनके न रहने की सूचना आई थी....
मेरी एक भी मुलाकात नहीं थी उनसे
सुना था बहुत कुछ

यह कि वे बहुत सुन्दर थीं
दुबली पतली सुन्दर काया और वैसी ही वेशभूषा!
यह कि उनके पिता कलकत्ता विश्वविद्यालय
के प्रभावशाली प्रोफेसर थे
यह भी कि उन्होंने डी०लिट० किया था

कविता

जो उस समय बहुत ही विरल था!
और बहुत सारी सुनी सुनाई बातों के साथ
एक फोटों भी देखी थीं.....
तमाम सुनी और देखी चीजों की तरह
वे भी स्मृतियों में काठ उकेरी कलाकृतियों
की भांति/बंद थीं।
काठ गोदाम के वे तमाम अक्स
अचानक जैसे सांस लेने लगे थे।
छातियां धड़कने और हाथ पांव हिलने लगे थे
पलकें स्पंदित पुतलियां भीगने लगी थीं।
जिसे केवल सुन सुन कर देखा था
वह अनुभूति सा सरस ही
विद्यमान था मेरे और तुम्हारे बीच।
और लगा था कि शायद तुम ही
तुम ही हो वह अधिकारिक पुरुष जो
कुछ कह सकते हैं उनके लिए।
चाहा था पूछूं....जान और भी बहुत कुछ
जो कभी भी सुने सुनाए के दायरे में
सुना नहीं जा सका....
मैंने कहा – मंजू रानी सिंह
जो अभी शांति निकेतन में हैं वे तब जालान में थीं।
एक नया पृष्ठ तब तक मन उलटने लगा था
दम घोंट उमस के बाद
बहती शीतल बयार सा वह क्लास रूम
विराज गया था मन में
जहां मंजू मैम से बेखटके....हम सब कहते—
'मैम आज पढ़ने का मूड नहीं है
कोई गाना गाइए ना....!'
और खनकती मीठी हंसी के साथ
मैम गातीं.....

'अमल धवल गिरि के शिखरों पर
बादल को घिरते देखा है!'
नागार्जुन मुझे बहुत अच्छे लगते थे
तब तक उनको देखा नहीं था केवल पढ़ा भर था
और वह भी कितना, पोखर से चुल्लूभर!
उसके बाद नागार्जुन हमारे कॉलेज में आए थे!
हम लोगों ने उनके सम्मान में
उनकी कविताओं की आवृत्ति की गई कविता
अभी भी जुबान पर तैनात हैं....
'भारत भूमि में प्रजातंत्र का बहुत बुरा हाल है!'
पहली बार किसी इतने बड़े कवि को
हम देख सुन रहे थे –
कितने साधारण!
उनकी साधारणता ही तो असाधारण थी।
तभी एक शीर्षक सी पंक्ति मन में बैठ गई थी
'साधारण के असाधारण कवि नागार्जुन!'
फिर तो कितना पढ़ा उनको
उसी क्रम में हाथ लगी थी वह पुस्तक भी
जिसमें पीछे स्कूटर पर बैठाकर
तुम उन्हें घुमा रहे थे।
पता नहीं क्या खास था इस चित्र में
मन की प्रेम में हमेशा के लिए जड़ गया!
घण्टे भर होने को आया था
गाड़ी अभी भी रफ्तार में थी
हम मेजबान से लगातार, सम्पर्क में थे।
अब हम किसी 'कोलभवन' की तलाश कर रहे थे
फिर 'अन्नपूर्णा' मिठाई की दुकान के बाद
हमें सीधे चले जाना था।
गाड़ी सीधे रास्ते गंतव्य की ओर थी
हम पता नहीं कितनी पगडंडियों की
ओर छोर में गुम थे!!

संपर्क : डॉ० शुभ्रा उपाध्याय : अध्यक्ष, हिंदी विभाग, खुदीराम बोस सेंट्रल कॉलेज, कोलकाता-700006
मो० 9830094793

‘आलोचना के समानान्तर’ स्त्री आलोचना अंशार को समृद्ध करने का आर्थक प्रयास है

रानी सुमिता

‘आलोचना के समानान्तर’ पुस्तक समीक्षक एवं कथाकार डॉ. सुनीता गुप्ता द्वारा स्त्री आलोचना के सीमित संसार को समृद्ध करने का सार्थक प्रयास है। कई कारणों से यह पुस्तक विशेष कही जायेगी। समग्र रूप से इस पुस्तक में लेखिका ने स्त्री लेखन द्वारा तय की गई लम्बी यात्रा को आलोकित करने की अथक कोशिश की है।

स्त्री दृष्टि से लिखी आलोचना की यह पुस्तक मात्र निर्णयात्मक अभिव्यक्ति नहीं है बल्कि तह में जा कर उस इतिहास को खंगालने और दृष्टिपात करने की तथा स्त्री लेखन समय काल के साथ किस दिशा में कितना अग्रेसित हुई है, इसे समझने की कोशिश भी है। साथ ही यह भी कि आकलन की कसौटी में स्त्रियों का लेखन साहित्यिक संसार द्वारा सही तथा न्यायसंगत उद्बोधन से परिभाषित हुआ या नहीं।

डा. सुनीता गुप्ता की पुस्तक ‘आलोचना के समानान्तर’ उनके आलोचनात्मक लेखों का संग्रह है। ये लेख प्रतिष्ठित पत्रिकाओं में समय समय पर प्रकाशित हुए हैं। सभी बाइस आलेखों को ‘विमर्श के बहाने’ और ‘रचना के बहाने’ दो अलग नजरिए से देखने की कोशिश की गई है। ‘विमर्श के बहाने’ में स्त्री के खुद के वजूद के लिए हर उठाई गई आवाज को सुनने की कोशिश की गई है। जब मैं पुस्तक के शीर्षक ‘आलोचना के समानान्तर’ पर गौर करती हूँ तो उनके पाँचवे आलेख ‘आलोचना के समानान्तर’ पर लेखिका के आलोचना और विमर्श की परिभाषा के तर्क पर विशेष गौर करना आवश्यक हो जाता है। विमर्श अपनी अति मुखरता के लिए ज्ञात है, अपने प्रति उचित स्थान की जवाबदेही के प्रति सतर्क है। तो क्या विमर्श आज आलोचना के समकक्ष आ खड़ा हुआ है? आलोचना के वे तराजू जो लेखन को तौलने के लिए प्रसिद्ध हैं, विमर्श के उठते कद से बेचैनी में हैं? सुनीता गुप्ता स्पष्ट करती हैं कि आलोचना निर्णयात्मक है पर विमर्श में संवाद की स्थिति होती है। तार्किक विश्लेषणों द्वारा वे इस निष्कर्ष पर पहुँचती हैं कि अस्मिता विमर्श को साहित्य से पृथक मानकर नकारे जाने का प्रयास हमारे पुरुषवादी व्यवस्था द्वारा होता रहा है। इससे बाहर निकलने की कोशिश होना आवश्यक है और विमर्श को उचित दर्जा दिया जाना आवश्यक है। संपूर्ण पुस्तक में स्त्रियों की जिजीविषा, पितृसत्तात्मक समाज में हाशिये की अपनी उपस्थिति पर बगावत करते मन को कलमबद्ध करने की कोशिशों का मार्मिक मूल्यांकन है। हमारे पितृसत्तात्मक व्यवस्था में स्त्रियाँ बहुत दूर से चल कर आ रही हैं। ऐसे में एक स्त्री समीक्षक उस इतिहास को बारम्बार खंगाले बिना चुप नहीं रह सकती जहाँ से स्त्रियों ने अपने अस्तित्व के विषय में सोचना शुरू किया था। यह समीक्षक सुनीता गुप्ता की सहज स्त्री

सोच है जो स्त्री लेखन के विकास क्रम में हर बार डुबकी लगाती हैं और हर आलेख को एक विशिष्टता प्रदान करती हैं।

पुस्तक के पहले ही आलेख 'दहलीज के पार' में स्थिति और अवस्थाओं से इतर समस्त महिलाएँ इस विमर्श में शामिल हैं, शहरी, ग्रामीण, कामकाजी, घरेलू, खेतिहर और वेश्याएँ हर वर्ग की मनःस्थिति को विमर्श के दायरे में उठाने की एकनिष्ठ कोशिश की गई है। उनका कथन कि महिलाओं ने स्वतंत्रता संग्राम में बेशक बढ़-चढ़ कर हिस्सा लिया हो पर वह उनकी मुक्ति का राग नहीं था, सौ फीसदी सच्चाई की ओर इशारा है। अंतराष्ट्रीय महिला वर्ष 1975 और अंतराष्ट्रीय महिला दशक (1975-1985) को लेखिका ने लैंडमार्क मानते हुए इसके पूर्व और पश्चात महिलाओं की स्थिति और उनके प्रति नजरिए पर आये सापेक्ष अंतर पर प्रकाश डाला है। दहलीज के बाहर कदम रखती अपना वितान ढूँढती स्त्रियों को भूमंडलीकरण के युग में परिभाषित करती सुनीता गुप्ता लिखती हैं कि बाजारवाद ने पावर-वुमन को जन्म दिया। ऐसा लगा मानो दुनिया औरतों के लिए बदल गई है परन्तु सच्चाई यह थी कि बाजार ने उसे बहुत हद तक 'वस्तु' में परिवर्तित कर दिया है और वे पुनः उसी जगह आ खड़ी हो गई हैं जहाँ से उनकी मुक्ति की यात्रा शुरू हुई थी। यह एक सार्थक विश्लेषण है। स्त्री को पुरातन काल से ही एक वस्तु और भोग्या के रूप में देखने की समाज को आदत रही है। आज वैश्वीकरण के अंधे दौर में घर-बाहर दोनों की जिम्मेदारी स्त्रियों को थमा और पावर-वुमन का टैग लगा परफैक्ट बनाने की कोशिश दोहन का नया तरीका भर है। इसमें स्त्री को मनुष्य समझे जाने की उम्मीद काफी हद तक फिर धरी की धरी रह गई है। लेखिका ने आलेख दर आलेख महिलाओं की विकास यात्रा के हर सत्य को उजागर करते हुए समाज के नजरिए पर कठोरता से वार किया

है। जिस देश में महिलाओं की जिम्मेदारियाँ एक उपाधि के तौर पर बहुत चालाकी से थोपी गई हैं नतीजतन महिलाएँ सदियों तक खुद को विस्तृत किए रहीं और जिम्मेदारियों को ही बस अपनी नियति समझने के लिए बाध्य रहीं, उस देश में अपनी आत्मकथा को जब दुनिया के समक्ष लाने का साहस स्त्रियों के बढ़ते कदम, आत्म जागृति में बढ़ते कदम की बेबाक दखलअंदाजी कहा जाएगा।

'स्त्री कविता के पचास वर्ष' समीक्षक के द्वारा एक गहन पड़ताल है। हाशिये पर रही उन कवयित्रियों पर आलेख को फोकस किया गया है जो रचनात्मक उपस्थिति के बावजूद साहित्य जगत के संज्ञान में नहीं आईं। वे मोना गुलाटी से हमारा साक्षात्कार करवाती हैं जिनकी कविताएँ पुरुष प्रधान समाज के प्रति एक स्त्री के चुक गये धैर्य की कथा है। आप उसके मानसिक संताप और उसकी तपन को महसूस कर सकते हैं। मणिका मोहिनी, सविता डागा, सुधा गुप्ता आदि सहित कई गुमनाम हो गई कवयित्रियों की कविताई मनोदशा का सूक्ष्मता से आकलन किया गया है। बेशक नया संसार, नई भूमिका स्त्री को पुकारने लगे और वे आगे बढ़ने को, दुनिया को खुली आँखों से देखने को आतुर हुईं पर स्त्री के लिए उसके संस्कार को छोड़ना कठिन रहा है और उन्होंने खुद को एक अंतर्द्वंद्व में फँसा हुआ महसूस किया। स्नेहमयी चौधरी और कई कवयित्रियों का जिक्र करती हुई वे आगे बढ़ती हैं और शांति सुमन, रमणिका गुप्ता की ओर पाठकों का ध्यान आकृष्ट करती हैं जिनके लेखन में साफ तौर पर बदलती हुई स्त्री दिखती है। दशक पर दशक स्त्री मन के उतार चढ़ाव और बदलाव को ढूँढ़ कर किताब का हिस्सा बनाना लेखिका की उपलब्धि है। इसमें पूनम सिंह, कात्यायनी, निर्मला पुतल, वर्तिका नंदा, नीलेश रघुवंशी, वंदना देवेन्द्र, रश्मि रेखा एवं नित नयी जुड़ती कवयित्रियों को शामिल करने की सच्ची कोशिश है।

सुनीता गुप्ता ने न केवल लेखन की दुनिया को ही तलाशा है बल्कि उन्होंने सिनेमा की दुनिया में भी स्त्रियों की बदलती कहानी के नये स्वरूप पर नजरें दौड़ाई हैं। स्त्री की बदलती भूमिका, उनके बढ़ते कदम पर विचार प्रकट करते हुए वे पौराणिक काल की ओर भी बेहद गहराई में जाकर छानबीन करती हैं और “सीता की उत्तर कथा” में अपने विमर्श को सार्थकता देती हैं। राम-सीता कथा को वाल्मीकि तुलसी, भवभूति के लेखन का तुलनात्मक वर्णन करते हुए वे इस नवयुग में सीता के संघर्ष को नवदृष्टि से देखते हुए बहुत सधे और खरे तरीके से उतारती हैं। वे लिखती हैं कि जहाँ महाकाव्य राम के आदर्शवादी चरित्र को व्यंजित करते हैं वही लोकगीत सीता के हृदय की व्याकुलता, स्वाभिमान और विद्रोही मनोभावों की कहानी कहते नजर आते हैं। महाकवियों का झुकाव मर्यादा पुरुषोत्तम के हर उठाये गये कदम पर नत भाव से था जबकि लोकगीत सीता के हर दुखती रग पर हाथ धरे नजर आते हैं। महाकाव्य सापेक्ष लोकगीतों का यह आकलन इस पुस्तक की एक थाती है।

‘रचना के बहाने’ श्रेणी में लेखिका ने उन सभी नब्बों को टटोला है जहाँ युगों तक मानसिक यातनाओं के अनगिनत तहों के बावजूद स्त्रियों की चुप्पियाँ उनके जीवन का हिस्सा थीं। ‘चुप्पी की दरारों से झाँकते सच’ के अंतर्गत सुधा अरोड़ा की पुस्तक ‘एक औरत के नोटबुक’ का उल्लेख अतिविशिष्ट है। ‘हेल्प’ से जुड़ी लेखिका सुधा जी के समाज से जुड़े अनुभवों में एक औरत की बेचैनियों से लेकर बेचारी देखी जा सकती है। सुधा अरोड़ा की कहानियों का विश्लेषण एवं उनके साक्षात्कार का विशेष उल्लेख स्त्री नजरिये को ध्यान में रखकर लिखी गई पुस्तक को एक यथार्थ स्वरूप देता है। वहीं लेखिका और एक्टिविस्ट रमणीका गुप्ता के लेखन पर सुनीता गुप्ता की दृष्टि बार-बार गई है जो इस पुस्तक की उपलब्धि है। रमणीका गुप्ता की कविताएँ और कहानियाँ मुख्यतः आदिवासी जनजीवन के चारों ओर कलमबद्ध हैं। आदिवासी समाज की स्त्री के

संवेदनशील मन के साथ साथ उनमें उमड़ते प्रतिरोध की चेतना की वजह से उस जनजातीय समाज में आ रहे बदलाव का विस्तृत लेखा-जोखा इस पुस्तक की गुणवत्ता में इजाफा करते हैं।

‘आधुनिक स्त्री दृष्टि में मीरा’ जैसे शोधात्मक आलेख इस पुस्तक के लेखन की गहराई को चरम बिंदु की ओर ले जाते हैं। मीरा की भक्ति में उस युग में मानव मुक्ति का शंखनाद था और आज पाँच सौ वर्षों के बाद भी एक स्त्री क्या व्यक्ति के तौर पर मुक्त कही जायेगी? क्या वह मीरा की तरह मुक्ति की अकांक्षा रख सकती है? इन प्रश्नों और मीरा के संघर्षों को समेटता एक संपूर्ण आलेख इस पुस्तक में जोड़ लेखिका ने पुस्तक को अर्थवत्ता प्रदान की है।

‘अस्सी प्रतिशत स्त्रियों की कथा’ के अन्तर्गत वरिष्ठ साहित्यकार उषाकिरण खान के लेखन पर प्रकाश इस पुस्तक का एक महत्वपूर्ण अध्याय है। उषाकिरण खान जी ने स्त्री विमर्श पर तमाम लेखन को मात्र बीस प्रतिशत महिलाओं की कथा बताया है जबकि अस्सी प्रतिशत महिलाएँ विकास से कोसों दूर हैं, वे अपने अधिकार नहीं जानती, बस अपने कर्तव्यों की परिभाषा ही पढ़ पाती हैं। उषाकिरण खान का लेखन उन अस्सी प्रतिशत स्त्रियों की पहचान है। ग्रामीण क्षेत्र का स्त्री जीवन परेशानियों की नौका पर सदा सवार रहता है पर कुछ हद तक कई वर्जनाओं से मुक्त भी है। इस पुस्तक में उषाकिरण खान जी के उपन्यासों ‘पानी पर लकीर’, ‘गई झूलनी टूट’, ‘फागुन के बाद’ पर गहन चर्चा है। इनकी कहानियों का उल्लेख इस पुस्तक के लिए अत्यंत आवश्यक है क्योंकि यहाँ यह देखना आवश्यक है कि उषाकिरण जी के विमर्श में प्रतिशोध नहीं क्योंकि इनके स्त्री पात्र अपने आप में पूर्ण दिखती हैं। स्त्री विकास यात्रा के तहत लिखी गई इस पुस्तक में अपने अलग दृष्टिकोण के साथ उपस्थित होती ग्रामीण दलित स्त्री पात्रों की व्याख्या अत्यंत आवश्यक थी।

पुस्तकायन

महाश्वेता देवी का रचना संसार पाठकों को एक अनचिन्हे दुनिया की ओर ले जाता है। 'जंगल के दावेदार' कहानी में आदिवासियों की कठिन दुनिया का वर्णन है जहाँ नमक अपने खाने में मिलना नसीब माना जाता था। महाश्वेता देवी की कहानियाँ हृदय को उद्वेलित कर देती हैं। उन पर यह आलेख पुस्तक का आवश्यक अध्याय है।

गहन छानबीन और आवश्यक पड़ताल करने के कामबद्ध की गई इस पुस्तक में मन्नू भंडारी का कथा संसार, रोहिणी अग्रवाल की समीक्षक दृष्टि से लेकर अनामिका व पूनम सिंह की कविताओं का व्यापक विश्लेषणात्मक अध्ययन है। महादेवी वर्मा, सुभद्रा कुमारी चौहान के सृजन पर व्यापक दृष्टिपात हुआ है। नई दौर की कविताओं में निवेदिता और शेफाली फ्रॉस्ट का उल्लेख सुनीता गुप्ता की सजग शोध का परिचायक है।

'आलोचना के समानान्तर' एक वृहद पुस्तक है। गहन अन्वेषण और शोध के बाद रचनाएँ कलमबद्ध और सूचीबद्ध की गई हैं। एक समीक्षक दृष्टिकोण की वजह से प्रत्येक आलेख में जीवटता और गहराई है। प्रत्येक आलेख किसी मोती के मनके की तरह पुस्तक की मात्र शोभा ही नहीं बढ़ा रहा है बल्कि एक आवश्यक तत्व प्रतीत होता है। इस पुस्तक की गहनता को देखते हुए कुछ और शोध आलेखों को पुस्तक में देखने की उत्सुकता बनी रहती है। 'स्त्री लेखन की संभावनाओं—की तलाश' में यद्यपि महादेवी वर्मा के लेखन पर विस्तृत चर्चा है पर इनके गद्य और पद्य रचनाओं पर एक विस्तृत आलेख अपेक्षित प्रतीत होता है क्योंकि महिलाओं

की स्थिति, मनोदशा पर महादेवी का लेखन एक लैंडमार्क है। मन्नू भंडारी के समस्त साहित्यकर्म के विस्तृत ब्यौरे पर एक संपूर्ण आलेख भी अपेक्षित दृष्टिगोचर होता है क्योंकि वह एक आधुनिक और बदलते नजरिए की स्त्री को संसार के सामने लाता है।

इस पुस्तक में आलेखों द्वारा स्त्री के लेखकीय यात्रा को ही नहीं बल्कि उसके समग्र विकास को देखने की भरपूर कोशिश की गई है। समाज प्रारंभ से स्त्री के प्रति कुंठित अवधारणा के साथ ही रहा है। मनुष्य के तौर पर पहचान पाने की उत्कंठा लेकर चलती स्त्री आज कहाँ तक पहुँची है? लेखिका इस विषय में क्या विचार रखती हैं? यह उत्सुकता का विषय है। क्योंकि यह पुस्तक साहित्य की ओट में स्त्री के मानसिक आलोड़नो, उनकी लंबी यात्रा के विभिन्न पड़ावों को साथ लेकर चली है, अंतराष्ट्रीय महिला दशक, वर्ष आदि का वर्णन करते हुए दशक दर दशक स्त्री की वस्तुस्थिति पर नजर रखी गई है तो स्त्री की एकदम आधुनिक हालिया स्थिति, साहित्य में स्वीकारे या नकारे जाने की वस्तुस्थिति, लेखन की दिशा और दशा पर वस्तुपरक, तुलनात्मक और विश्लेषणात्मक अध्ययन एवं लेखिका के अपने दृष्टिकोण का लेखकीय आलेख का एक चैप्टर पुस्तक की आवश्यकता प्रतीत होती है।

ऐसी शोधात्मक पुस्तक लिख कर समीक्षक और कथाकार डा. सुनीता गुप्ता ने साहित्य की दुनिया में श्रीवृद्धि की है। ऐसी पुस्तकों का लेखन लंबी और गंभीर प्रक्रिया से ही संभव है। तमाम आलेखों में गहरी और सूक्ष्म दृष्टि का परिचय मिलता है। आलोचना की विरल दुनिया को सघन करती यह पुस्तक 'आलोचना के समानान्तर' साहित्य की दुनिया में अवश्य एक महत्वपूर्ण दस्तावेज साबित होगी !

समीक्षक पुस्तक – आलोचना के समानान्तर
प्रकाशक – नई किताब, नई दिल्ली
प्रथम संस्करण – 2021

समीक्षक – रानी सुमिता

संपर्क : मो० 9523829058

पत्र पीड़ा की मार्मिक अभिव्यक्ति : इस बार उनके लिए

खुदेजा खान

हिंदी की वरिष्ठ कवयित्री मीना सिंह की नवीन कविता संग्रह 'इस बार उनके लिए' प्रकाशित होकर साल 2022 में आई है। जैसा कि शीर्षक से प्रतीत होता है उनके लिए यानी वह जो शोषित है, वंचित है, उपेक्षा का शिकार है उनकी आवाज को बुलंद करती है। वह जो मिलकर बिछड़ गए, वह सपने जो अधूरे रह गए, वह व्यवस्था जिनमें सुधार की आवश्यकता है, वह लोग जो अपने होकर भी पराए हैं। समय, समाज, परिवेश से होते हुए देश काल तक को समेट कर अपनी कविता का संसार निर्मित करने का महत् प्रयास इस संग्रह में किया गया है।

'मोरनी की चाह' अधूरी है। बादलों तले नाचने का/भीगा भीगा उत्साह/ मोरनी के पांव की पायल खोल देना चाहता है/लेकिन कंक्रीट के जंगल में पड़ गया है सूखा/जलवायु परिवर्तन ने ऋतुओं का चक्र बिगाड़ दिया है। इससे मनुष्य ही नहीं, जीव-जंतु और पशु-पक्षी भी प्रभावित हुए हैं।

“आदमी से/प्यार और लगाव केवल शरीर से रह गया/मन छुप गया वार्डरोब में लटके रंगीन परिधानों में/ऐसे में 'प्राणों के चषक में' प्रेम की तरलता कहाँ बाकी बचती है।”

'एक दिन मूसलाधार बरसात में'- सूखा सरोवर फिर भरने लगा/ लो फिर आ गया सुप्रभात का मौसम।

अच्छी पंक्तियाँ हैं।

'आकाश की ओरी के नीचे'- विरह वेदना सुनाती है कविता।

'फिर मेह बरसा'-प्यार का मौसम/ घुस गया घोटलों में/ पकड़ कर बांह साथी की। (घोटल आदिवासी परंपरा में युवाओं के प्रेम क्रीड़ा का स्थान होता है, जहाँ रह कर वे एक दूसरे को समझ सकें और अपने लिए उपयुक्त जीवन साथी का चुनाव कर सकें)

'मौसम की कथा' सुनाते हुए कवयित्री कहती हैं -“गंतव्य आगे भी था पीछे भी/बढ़ना था आगे भीगते हुए/जिंदगी की राह/पाना था गंतव्य का मलय/इतनी हिम्मत तो जुटाना होगी चाहे मौसम कैसा भी हो।”

शोषण के विरुद्ध महिला का संकल्प 'चने के झाड़' जिसे कटेगी भी वही। चने के झाड़ पर चढ़े शोषकों के खिलाफ उठ खड़ी हुई जब दलित महिलाएं तुमुल ध्वनि करती हुई।

'मां का मन' और मन की ममता कभी पीछ नहीं छोड़ती अपनी संतान का। उसकी चिंता बच्चे के पीछे- पीछे चलती है। 'आंखों की कोर का भीगना'- क्यों अनायास/ रोने

लगा आकाश/ कि कोर आंखों की गीली हो गई/ भीगी फिर रात भर/ कोई दुख इसी तरह यकायक सामने दृश्य मान हो जाता है कि हृदय की लाश, अपनी ही बाहों में उठाने को विवश होना पड़ता है।

‘बांध अधूरा रह गया’ हंसने की कीमत पर/आंसुओं की नदी/पलट कर/समा गई पुतलियों के ताल में/हंसी की कीमत पर/आंसुओं का पानी/फिर सूख गया/बांध अधूरा रह गया।

‘उम्मीदों की राख तले’- सुगबुगा रही है /आस की चिंगारी/ खोने की शर्त पर /पाना नहीं चाहा था।

‘बरसात में’- अच्छा हुआ बह गए आंसू /किरकिरी सी जो कसक रही थी, बहकर निकल गई।

एक धिक्कार है उन दोगले चरित्र वालों पर जो महिलाओं का मंचों पर, विज्ञापनों में, आर्ट गैलरी में महिमा गान करते हैं लेकिन वास्तव में वही घरों की वृद्धाओं के रुदन को उपेक्षित कर अनसुना कर देते हैं। कवयित्री उनसे जवाब तलब करने को तत्पर है।- ‘कविता उत्तर की प्रतीक्षा में’- मुझे उनके उत्तर की प्रतीक्षा है क्योंकि मैं खड़ी हूं अब उन गवाक्षों के पल्ले खोल। एक ललकार है इसमें।

‘एक युद्ध ऐसा भी’ जो बिना शस्त्रों के लड़ा जाता है’ वाक् युद्ध जब आपसी संबंधों में ठन जाती है।

भाग्य और नियति अपने ढंग से काम करते हैं अतः ऋणा चुकाए बिना पूरा नहीं होता यह जीवन चक्र। यहां भाग्यवादी दृष्टिकोण नियंता के हाथों निर्णय लिए जाने का समर्थक प्रतीत होता है। ऋणा से मुक्ति सतकर्मों से ही मिलती है अन्यथा दुष्परिणाम भोगने से कोई रोक नहीं सकता।

‘नई कविता के जन्म के लिए’- कृत संकल्प होना होगा। कविता की जड़ों में नमक और तेजाब डालने वालों से, सतर्क करती कविता।

‘एक पुरानी कविता’- हां सत्य ही है/ जल में बिंब/ बिंब में जल /छलक रहा है आंखों से/ झर झर..... तो कहीं झूठी मुस्कानों में /सूखे आंसुओं के साथ।

‘समय से’-समय भले अनुकूल नहीं फिर भी कवयित्री निराश नहीं हैं नई पीढ़ी से उम्मीद लगाती कि- बदलेंगे मूल्य, संस्कार और संस्कृति के नए द्वार खुलेंगे।

जीवन एक पथ है जिस पर जो भी चला उस ने बहुत कष्ट भी सहा। खोया और पाया भी। बस एक संबल जरूरी है सतत चलने के लिए। ‘राह की शोध’ ऐसे ही मुकम्मल होती है।

दूध भात खाने की इच्छा/क्योंकि मेरे पास आज भी प्यार का /जादू भरा खिलौना है/तुम्हें बहला-फुसलाकर/ एक खुले आंगन में बांधने के लिए। उपरोक्त सुंदर पंक्तियां हैं कविता की- ‘एक ही कटोरे में’।

‘घर, रिश्ते और सरहदे’ केवल देश की सीमा नहीं होती/जहां अब ज़हर बुझे ज़ुबान से निकले/ज़हरीले तीरों के बाण ताने/निहत्ये ही/ज़ुबान के तीर आधुनिक जैविक हथियारों से भी ज्यादा घातक।

‘उनके लिए’ उन प्रताड़ित, शोषित औरतों के खलिफ़ा सिंहनाद सा करती है ये कविता। केंचुए, सांप, कनखजूरे बन कर आदमी की शक्ल में जो निरंतर शोषण व अत्याचार कर रहे हैं।

‘इस बार’ कविता में धार्मिक उन्मादियों, कट्टरपंथियों के अत्याचारों से मुक्त होने के लिए हर दबी - कुचली,पलायन करती परिवार की औरतों, बच्चों के साथ कवयित्री दृढ़ता से खड़ी दिखाई देती हैं।

‘जीवन फिर अधूरा रह गया’- मन कहीं दांतों के बीच/जीभ सा दब गया/ज़िन्दगी छटपटाने लगी/सुख - दुख के पाटों के बीच/ हृदय ने धड़कना बंद कर दिया।

दौड़ आओ छुपे अंधेरो में/और उस/ध्वनि को
शब्द दो/‘एक उच्चारण’ जो तुम/ वर्षों से भूल बैठे
हो.....

उजाले के प्रसव में/खड़ी है तुम्हारी मां/सुनहरी
रौशनी बनकर। बच्चा प्रौढ़ भी हो जाए तो मां के लिए
बच्चा ही रहता है। मां के गहन उद्गार हैं इन पंक्तियों में
‘उजाले के प्रसव में’ अद्भुत बिम्ब उभर कर आया है।

‘हवाओं का आंचल’ - हवा में जो खुशबू है उसे
महसूस करने के लिए बंद कमरों से बाहर निकल कर
देखो मौसम पर्व बन जाएगा।

‘नई जिंदगी को’ - उपेक्षित जीवन के प्रति आशा
कि उसका स्वरूप बदल कर नए रूप में ढल जाए।

‘आकाश की बुलंदियों तक’ - पर्दा नशीन औरतों
की तरक्की की इच्छा है इसमें।

‘रात रोती रह गई’ प्रेम की अभिलाषा धरी रह गई
और तुम सोते रहे आलस का चादर ओढ़ कर।

‘मां’ पर एक और सुंदर सी कविता- मां एक
संपूर्ण शब्द /स्वर और नाद का /परम बिंदु/ फैला हुआ
दिशाओं में/ कोणों से निशाना साधता/ धनुर्धर! अहा!
क्या ही टटका बिंब है।

‘क्षुद्र जीवन’- जीवन क्षुद्र है लेकिन इसे उत्कृष्ट
बनाने के लिए, मृगास्त्री आभा से दमकाने के लिए
संघर्ष की अतल गहराइयों और चट्टानों के बीच से इसे
निकालना पड़ता है।

एक प्यारी सी कविता है- ‘अभी-अभी’ पत्ता टूटकर
पेड़ की जड़ों में मिल जाएगा। ख़ाब बनकर उसी प्रकार
हमारे रूढ़न और हास्य भी हमें सुदृढ़ बनाते हैं। कवयित्री
कहती हैं- मैंने तुम्हारी टहनियों से/अभी-अभी एक कलम
बना ली है/सैकड़ों रचनाओं को/लिपिबद्ध करने के लिए।

अपने दृढ़ संकल्प को परिभाषित करती है कविता
‘घास’ मिटने और पुनःजन्मने की/ इस प्रक्रिया में/ मैं
हंसती हूँ खिल खिलाकर/ उनके भोलेपन में/लिपटी

क्रूरता के बोध से/कि नहीं जानते कि घास कभी/मरती
नहीं/मर सकती ही नहीं/ हां मैं घास हूँ।

‘अभी तक’ मेरे स्वाभिमान के शिखर पर/कुछ
तरल बूंदें सूखी नहीं/ अभी तक पीड़ा के इस व्यापार में।

चिंतित मां अपनी संतान के लिए देह विहीन
‘पिंड बन बह रही है नदी के प्रवाह में’। स्त्री होने के नाते
कवयित्री ने मां होने के दायित्व और आत्मिक स्नेह को
कई कविताओं में प्रखरता से व्यक्त किया है।

‘वक्त की खूंटी पर’- लटका/आदमी का विकल्प
/बेनाप के पाजामे में/ कुंठित, हैरान/सिकुड़ कर थरथरा
रहा है/जिसका ईमान ही धराशाई हो जाए उससे और
क्या उम्मीद।

उसके प्रश्न आज भी/टंगे तुम्हारे
अंकार के हैंगर पर/औरतों के प्रश्नों के/उत्तर
बनो/जो करती है तुम्हारे घरों को रोशन ,उसके लिए
‘ऊष्मा’ बनो।

‘एक जीवन ऐसा भी’- जहां स्त्री को उपेक्षित कर
पुष्पोचित दंभ में जीते हुए, उसका तिरस्कार करने के
बाद भी उसकी चाह स्वार्थ का नमूना है।

‘डॉक (पुकारना)’- सुन रहे हो तुम..? एक मां
की ललकार जो अपनी संतान को रास्ते पर लाना
चाहती है कि बिल्ली की म्याऊं नहीं शेरनी की दहाड़ से
है तुम्हारा सामना।

‘जिंदगी के कछार में’- किसी अल्हड़ता का खो
जाना और एक परिपक्वता से उसे ढंक देना....उस
आवाज़ की कृत्रिमता को पहचानने से कवयित्री इंकार
कर देती है।

“जब तक सलामत हैं मेरे हाथ, पैर, आंख, कान,
दिमाग, /कच्ची पगडंडियों से चलकर/ चारकोल की
लंबी सड़क बनाने के लिए, ‘मैं मज़दूर हूँ, मजबूर नहीं’
बस मुझे श्रम का उचित मूल्य मिलना चाहिए।”

पुस्तकायन

‘कविता के लिए’ एक दर्दमंद दिल चाहिए जो कवयित्री के पास है। प्यार और संवेदना का तरल दीप / जिसे हृदय की पनडुब्बी में समेट लेना चाहती है।

और चौदह वर्षीय वनवास में/ हमने/ देखा किसी भूखंड के उत्थान- पतन का खेल/ विस्थापन में स्थापन का।

जीवन की ‘मृगमरीचिका में’-मस्स्थल की गर्म रेत में धंस गए थे पांव।

उपरोक्त कुछ कविताएं कवयित्री के दक्षिण अफ्रीका के चौदह वर्ष के प्रवास की हैं। जिनमें वहां के मूल निवासियों के संघर्षमय जीवन का चित्रण है।

‘धरा के लिए’- मैं भयभीत नहीं/ऐसे लोगों से/ उनके आचरण की संहिता पर/अनुशासन का अंगद भाव/सुव्यवस्थित कर/ मैं नए बोध का/बैनर थामे खड़ी हूं। ईमानदार कर्तव्य निष्ठा के साथ आक्रोश की दिखलाती कविता।

‘कालाहारी में’- जाना था हमने/भूख कैसे साझा करती है/आदमीयत से आदमी को।

‘यात्रा और गर्म चाय’, ‘सर्द मौसम में’ भावना में पगी रचनाएं हैं।

‘एक टुकड़ा रजाई’ - झोपड़ी में भी प्यार का कोसापन (गर्माहट) बसता है भले ही वहां विपन्नता का साम्राज्य हो।

उपेक्षितों के विकास का क्रम ‘दलदल से दलदल’ तक होता है। श्रमिक वर्ग के कठिन जीवन की दास्तां कहता है।

ज़रूरत के लिए पेड़ काटकर कागज़ बनाना, एक पेड़ का परिपक्व होकर टूटना, नए जंगल को जन्म देता है क्षरण हो या मरण दोनों जीवन की, जैविकी की प्रक्रिया है। कवयित्री ने यहां पेड़ों के कटने को एक अलग दृष्टिकोण से देख कर प्रस्तुत किया है।

पुस्तक - इस बार उनके लिए

लेखिका- मीना सिंह

प्रकाशक - हंस प्रकाशन

मूल्य - 495/-

संपर्क : चित्रकूट रोड, धर्मपूरा, नम्बर 1, नियर अशोक पार्क, जगदलपुर, छत्तीसगढ़,

पिन - 494001 मो० 7389642591

‘अंधकार की नाभि में’- समझना /तो होगा ही कि पानी के छींटों में/ प्रिज्म के रंग छुपे होते हैं /और घने अंधेरे की नमी में जब /छिद्र आवश्यक हो तो /धनुष उठा ही लेना चाहिए/ पाप और पुण्य की हिफाज़त के लिए....

यहां भी एक आह्वान करती है कविता।

सपनों के लिए जीना/ अच्छा है/ पर खोना/ आत्महत्या के सिवा/कुछ भी नहीं/यहां पर पाश की कविता बरबस याद आ जाती है कि ‘सबसे खतरनाक होता है सपनों का मर जाना’।

‘कब तक’- कोरोना काल की त्रासद परिस्थितियों को देखते हुए लिखी गई कविता है क्योंकि इस वैश्विक महामारी में एक कवि हृदय कैसे विचलित हुए बिना रह सकता है।

कवयित्री मीना सिंह ने अपना यह संग्रह समय के थपेड़ों से जूझते हुए इंसानों को समर्पित किया है। स्वाभाविक है इसे पढ़ते हुए संघर्षरत लोगों के जीवन का अंतर्द्वंद्व और जिजीविषा को क़रीब से महसूस कर सकते हैं, साथ ही सामाजिक बदलाव से आए रिश्तों के परिवर्तन को भी कविताओं में पढ़ा जा सकता है। कवयित्री की भाषा संस्कृत निष्ठ और देशज शब्दों से भरपूर है। इन बौद्धिक कविताओं को पढ़ना गूढ़-गहन रास्तों पर चलने जैसा है जहां हमारे सामने नए-नए अनुभव व दृश्यावलियां उपस्थित होतीं रहतीं हैं।

समीक्षा - ख़ुदेजा खान, जगदलपुर/ छत्तीसगढ़

द्वैतात्मक यथार्थ का महाकाव्यात्मक औद्दर्य

डॉ० शैलेश्वर सती प्रसाद

शिवदयाल का उपन्यास 'एक और दुनिया होती' 1970-80 के दशक में उपजे असीम सम्भावनाओं से युक्त अहिंसक परिवर्तनकामी आन्दोलन और उससे जुड़े युवाओं के सपनों और संघर्षों की कथा कहती एक अनूठी कृति है। यह उपन्यास आत्मकथात्मक है। कथावाचक निम्न मध्यम वर्ग से आने वाला अदम्य आकांक्षाओं से परिपूर्ण प्रेम है। वह नायक अमृत तथा उसकी गतिविधियों का गवाह है। किन्तु प्रेम आन्दोलन के प्रति जुड़ाव होने के बावजूद अपनी वर्गगत और पारिवारिक सीमाओं से उबर नहीं पाता। यह उपन्यास एक सामाजिक वर्ग के चिन्तन को दर्शाता है - वह वर्ग जो परिवर्तन चाहता है मगर अपनी सीमाओं को त्याग नहीं पाता। यह एक अंतर्द्वंद्व को जन्म देता है और प्रेम इससे ग्रस्त है। उसकी प्रेमिका है अपूर्वा जो उच्च मध्यम वर्ग से है और सामाजिक सरोकारों के साथ ही साहित्यिक अभिरुचि से सम्पन्न है। उपन्यास को प्रेम और अपूर्वा की साहित्यिक मानसिकता एक विशिष्ट आयाम देती है।

प्रथम पुरुष में कथा सुनाने वाला प्रेम कवि भी है और संघर्ष-क्लांत अमृत उससे आग्रह करता है कि वह उसे अपनी कविता सुनाए जिसकी पंक्तियाँ हैं -

“यह जो थोड़ी-सी
हरियाली बिछी है पथ पर
यह जो मिली थोड़ी-सी वृक्ष की छाँह
यह आसमान पर टंगा इकहरा बादल
चाहो तो इनका अपना कह सकते हो”

जीवन के सौन्दर्य का द्योतक यह बिम्ब उपन्यास के शीर्षक को त्रिव्रता देता है - उसका विस्तार करता है। शिवदयाल कथा संरचना के माहिर हैं तो भाषा के विविध आयामों के सफल चितरे भी। इस उपन्यास की सफलता मात्र विषय/थीम का अनुष्ठान ही नहीं कि यह लीकग्रस्त उपन्यासों के मुकाबले सशक्त रूप में खड़ा है, बल्कि इसकी खास संरचना भी है जिसमें इस उपन्यास की थीम को सार्थकता मिलती है। शिवदयाल ने वर्णनात्मक गद्य, आत्मालाप, पत्र, साहित्य समीक्षा, सम्वाद के सफल प्रयोग किए हैं। पात्रों के नाम भी (प्रेम, अपूर्वा, अमृत, शिप्रा, विनय, छोटन जी, राधेश्याम, अर्चना, बनवारी तथा बंबइया आदि) इस कथा को एक विशिष्ट मनोवैज्ञानिक प्रतीकात्मकता देते हैं।

उपन्यास का प्रथम वाक्य, बल्कि पैराग्राफ “उसे देख आया हूँ” कथा सुनने की उत्सुकता को जन्म देता है। पाठक से अमृत का सीधा संवाद-सम्पर्क होता है। ‘उसे’ सर्वनाम है अहिंसक आदर्शवादी क्रांतिकारी अमृत का जो नई दुनिया बनाना चाहता है। वह एक आंदोलन खड़ा करता है फिर उसका बिखराव भी देखता है। मर्माहत होता है जब एनजीओ, गैर-सरकारी संस्थाओं को विदेशी हितों के लिए काम करते देखता है और विपन्न, थका हुआ कार्यकर्ता समूह भी जाने-अनजाने इनका सहभागी बनता है। जाने-अनजाने अमृत भी इनका

शिकार बन जाता है और सभी मिलकर उसे जेल पहुंचा देते हैं। वह छूटता तो है, किन्तु मरणासन्न। उसका तैयार किया हुआ ग्रामीण विकास का मॉडल एक आदर्श कल्पना मात्र बनकर रह जाता है। संस्था ने उसे तोड़ दिया है, उसकी प्रतिष्ठा नष्ट कर दी है। वह प्रतीक है पूंजीवादी ग्लोबलाइजेशन के समक्ष आदर्शवाद के ह्रास का। इसी दायि स्थिति में एक-दूसरे को देखकर प्रेम और अमृत विह्वल और कातर हो जाते हैं।

एक तरफ तो यह उपन्यास अहिंसक आन्दोलन को जाँचता-परखता है, उसकी संभावनाओं और त्रुटियों को मानवीय पात्रों स्त्री और पुरुष दोनों के नजरिये से देखता है। तो विश्व-स्तर पर युवा आंदोलन के विभिन्न रूपों - ग्रीन मूवमेंट, डोन्ट मेक वेव, और चीन में युवाओं के दमन की भी कथा कहता है। ट्रेड यूनियनों का ह्रास और कम्युनिज्म का पतन भी दिखलाता है। इस तरह एक भारतीय आंदोलन को वैश्विक फ्रेम में रखकर एक खास तरह के विजन को शिवदयाल ने पाठकों के समक्ष रखा है। पर्यावरण सुरक्षा, परमाणु युद्ध निषेध, स्वतंत्रता, समानता और व्यक्ति की अस्मिता और गरिमा पर आधारित एक नई दुनिया अवश्य बनेगी, ऐसा उपन्यासकार शिवदयाल का विश्वास है। इस उदात्त लक्ष्य की राह में अनेक स्तरों पर जो बाधाएं व अड़चने हैं और जो संघर्ष है, यही उपन्यास को मार्मिकता देता है।

शिवदयाल का उपन्यास 'एक और दुनिया होती' की पृष्ठभूमि में 1970-80 के दशक में जयप्रकाश नारायण के सम्पूर्ण क्रांति के आह्वान पर आधारित, असीम संभावनाओं से युक्त अहिंसक राजनीतिक, सामाजिक, सांस्कृतिक, आर्थिक बदलाव के आंदोलन का एक विशिष्ट महाकाव्यात्मक सौंदर्य से परिपूर्ण दस्तावेज है। इसके पीछे है लेखक का जेपी के प्रति वैचारिक और भावनात्मक जुड़ाव। इसको कथात्मक रूप और विस्तार देती है उनकी सृजनात्मक प्रतिभा जो उनके वैचारिक द्वन्द्वों को औपन्यासिक विधा में एक सकारात्मक परिणति तक पहुंचाने में प्रवृत्त होती है। मराठी लेखिका और इस उपन्यास की मराठी अनवादक रेखा देशपाण्डे एक पत्र में शिवदयाल को कहती हैं - '70 से 90 तक के अरसे को फिर से जीने पर इसने मजबूर किया... यह सारा माहौल मेरे भी युवा वजूद में उतरता रहा था... हमारी व्यक्तिगत एवं सामाजिक नैतिकता का जो गठन हुआ उनमें इस

दशक की इन बेचैनियों का योगदान रहा है...'। इन बेचैनियों को साकार करने में शिवदयाल ने कथावाचक प्रेम के संस्मरणात्मकता का प्रथम पुरुष कथा प्रस्तुति में उपयोग किया है। कवि-समीक्षक मुकेश प्रत्यूष ने ठीक ही माना है कि यह उपन्यास भीतर कहीं गहरे तक हिलाकर रख देता है। इसकी सफलता के पीछे मैं शिवदयाल के प्रथम पुरुष में कथावाचन के कौशल को मानता हूं। प्रथम पुरुष में कथा कहने की शैली बोधगया के महंथ की हजारों एकड़ जमीन की मिल्कियत के विरुद्ध खेतिहर मजदूरों के अहिंसात्मक आंदोलन की जीवंत तस्वीर ही नहीं खींचती, बल्कि उसके नेतृत्व में रहे छात्रों, युवकों, युवतियों के मानसिक द्वन्द्वों को प्रामाणिक रूप में पाठक के सामने रखती है और उपन्यास के द्वारा प्रतिपादित मानवीय दृष्टि को भी प्रकाशित करती है। शिवदयाल ने इस शैली का कुशल प्रयोग 'मुन्ना बँड वाले उस्ताद' की अनेक कहानियों में किया है तथा प्रथम पुरुष कथा-प्रस्तुति को विविध आयाम दिये हैं। उनका प्रथम उपन्यास है 'छिनते पल छिन' जोकि ल्योना, एक शिक्षित नारी के 'स्मृतिगंध' पर आधारित प्रथम पुरुष कथा-प्रस्तुति है, नारी-अस्मिता पर केन्द्रित सशक्त लेखन परंपरा में एक विशिष्ट उपलब्धि है। शिवदयाल ने अपने इस दूसरे उपन्यास में प्रेम के द्वारा जेपी आंदोलन द्वारा युवाओं में अहिंसात्मक क्रान्तिकारी चेतना और नैतिकता तथा आंदोलन के बिखराव की कथा कही है। इसे तो स्थानीय ग्रामीण स्तर, शहरी स्तर तथा वैश्विक स्तर पर पर्यावरण, सामाजिक संरचना और मूल्यों की स्थापना का एक सशक्त और प्रभावकारी सृजनात्मक उद्यम कहना चाहिए। इसके कारण उपन्यास में पकड़ आई है, रोचकता बढ़ी है और पात्रों से पाठक का जुड़ाव बढ़ा है। साथ ही एक आलोचनात्मक दृष्टि भी आई है और पाठक अपने परिवेश और परिस्थिति पर सोचने पर विवश हो जाता है कि क्यों 'जानवरों की तरह लोग रहते हैं, कीड़े-मकोड़ों की तरह!' मानवीय गरिमा की स्थापना उपन्यासकार की मूल चिंता है, जो जयप्रकाश नारायण और उनके आंदोलन का मूल सरोकार और लक्ष्य भी है।

यह चिंता इतिहास बोध से जुड़ती है जिसे शिवदयाल ने पढ़ाई, राजनीतिक चेतना, मानवीय मूल्यों, सामाजिक रिश्तों और संरचना की समझ से अर्जित किया है, तथा

सृजनात्मकता और तकनीक में प्रयुक्त इससे विषयवस्तु, भाषा, शैली, पात्र, चेतना- सभी के द्वैतात्मक स्वरूप और संरचना में व्याप्त औपन्यासिक अन्तःदृष्टि के कारण। इस संदर्भ में शिवदयाल की इतिहास-दृष्टि और उपन्यास-दृष्टि में अन्तर करना होगा। मिलान कुंदेरा ने ठीक ही कला के संदर्भ में इतिहास की अवधारणा को एक यात्रा बतलाया है जिसमें उपन्यासकार अनदेखे, नवीन प्रदेशों का संधान करता उनकी मीनमेख करता है। उपन्यासकार वह देखता है जिसे उसके पूर्ववर्ती रचनाकारों ने नहीं देखा और नहीं कहा अर्थात् वह मूल्यों का इतिहास लिखता है। इसके लिये उसे विशिष्ट संयोजना की आवश्यकता होती है जो उपन्यास की कला को जन्म देती है। शिवदयाल वस्तुतः मूल रूप से मानवीय कथा द्वारा मूल्यों का इतिहास लिख रहे हैं। उस दौर को वे अपने ही नजरिए से देख रहे हैं - वह कुछ जो शायद और लोगों, रचनाकारों ने नहीं देखा। वे सपना देखते हैं एक शोषण विहीन समाज का जो शोषण और हिंसा से मुक्त हो। यहाँ गांधी जी की बात याद रखने योग्य है कि मानव जीवन के दैनंदिन कार्यकलाप के माध्यम से ही स्वयं को अभिव्यक्त करता है। इस प्रकार वह आर्थिक, सामाजिक और राजनीतिक सभी क्षेत्रों को प्रभावित करता है...यह मानव अनुभूति से परे की वस्तु नहीं है।... अहिंसक संगठन, अनुशासन और त्याग की शक्ति ही लोगों को अन्याय अथवा दमन से बचा सकेगी। जयप्रकाश ने इसके मर्म को समझा था और सम्पूर्ण क्रांति का नारा दिया था। वह एक नये मूल्य की तलाश थी और उनकी आपातकाल में जेल में लिखी गई कविता में स्पष्ट है-

‘निज कामना कुछ है नहीं

सब है समर्पित ईश को

तो विफलताओं पर तुष्ट हूँ अपनी..’

यही विफलता अमृत की है इस उपन्यास में। शेखर उसे ‘अल्टर’ कहता है, अपनी नेतृत्व क्षमता और सामाजिक विवेक के कारण वह ‘मिस्टर अल्टर’ और फिर ‘प्रोफेसर अल्टर’ के नाम से जाना जाने लगा। उपन्यास का प्रारंभ उसी के साथ होता है ‘उसे देख आया हूँ।’ प्रेम को पीड़ा और क्षोभ होता है उसकी इस दशा पर। सतत जनता की मुक्ति को अहिंसक नेतृत्व देने वाला, संगठनकर्ता, खेतिहरों को भूमि दिलाने वाला, सर्वस्व को दांव पर लगाने वाला, अपनी प्रिया शिप्रा को

संघर्ष की वेदी पर त्याग देने वाला, उच्चतम मूल्यों में निष्ठा रखने वाला विलक्षण व्यक्तित्व एक स्वयंसेवी संस्था की साजिश का शिकार बन गया। जेल पहुंच गया। वहां से बेल मिलने पर वह छूटा तो पर टूट गया। वह जयप्रकाश के संपूर्ण क्रांति के उद्घोष से प्रभावित है। वह भी क्रांति को मात्र परिवर्तन नहीं मानता। वह विश्वास करता है कि समाज का सबसे कमजोर आदमी का संपूर्ण विकास होना चाहिए कि वह स्वतंत्रता, स्वाभिमान, और गरिमा के साथ जी सके। इसके लिये अनिवार्य है कि व्यक्तित्व की स्वतंत्रता, विचार की स्वतंत्रता और आत्मा की स्वतंत्रता हर मानव को उपलब्ध हो। यह तो गांधीवादी हृदय परिवर्तन द्वारा संभव नहीं। अतः जेपी ने सामाजिक बदलाव की सर्वथा नई विचारधारा को युवा वर्ग तक पहुंचाया। इसी को आधार मानकर शिवदयाल कथा को द्विधात्मक तरीके से आगे बढ़ाते हैं। उपन्यास के पहले भाग में हिंसा और अहिंसा के बीच तीखी बहस होती है। विनय कहता है ‘हिंसक साधनों के ऊपर अहिंसक, शांतिमय साधनों पर निर्भरता सिर्फ हमारी रणनीति का हिस्सा न हो, मैं समझता हूं शांतिमयता और अहिंसा हमारी निष्ठापूर्ण प्रतिबद्धता होनी चाहिए।’

अभिनव और प्रेम की बातचीत हिंसा-अहिंसा के द्वैत को स्थापित करती है और उपन्यास की मूलधारणा और कथात्मकता को सुदृढ़ करती है। अभिनव प्रेम से कहता है, ‘तुम्हें मालूम है जिनके साथ तुम हो वे सब साम्राज्यवादियों के एजेंट हैं, और कुछ नहीं। सर्वहारा क्रांति से इन्हें कोई मतलब नहीं। वे तो असली लड़ाई को लगातार टालते जाना चाहते हैं, समझे?’ प्रेम का उत्तर सटीक है, ‘क्या रूस और चीन का शासक वर्ग सर्वहारा वर्ग है अभिनव?’ क्योंकि प्रेम के लिए ‘क्रांति की हमारी चिन्ताओं में सिर्फ वर्ग, स्वामित्व और शासन व्यवस्था नहीं है’ बल्कि स्वयं मनुष्य है प्रेम मुक्ति की आकांक्षा को एक दार्शनिक और आध्यात्मिक शिखर पर ले जाता है। वह जानता है कि ‘विचारधारा की कटुता धर्म की कटुता से अलग नहीं होती, शायद उससे भी अधिक खतरनाक होती है।’

अमृत भी उससे सहमत है कि कम्युनिज्म की जगह लोग ‘एक नई विश्व व्यवस्था का मार्ग’ चुन रहे हैं। समाजवादी व्यवस्था जितनी अधिक मानवीय बनेगी, हमारी दुनिया में मानवीयता के लिये उतनी ही जगह

बनती जाएगी।' कथा का पहला भाग बिहार की राजधानी पटना, बोधगया के ग्रामीण क्षेत्र, पार्श्वनाथ की पहाड़ियों और हॉस्टल और युनिवर्सिटी में केन्द्रित है। इसके साथ-साथ शिविरों में वाद-विवाद, सघन क्षेत्र में भूमि हस्तगत कराने की लड़ाई- सभी साथ-साथ चलते हैं। शिवदयाल ने निष्ठापूर्ण युवकों से लुम्पेन छात्रों की टकराहट को भी रेखांकित किया है। एक तरह से उपन्यास की कथा पूरे दशक की युवा स्थिति को दिखलाता है। इसमें मुख्य है बोधगया का भूमि संघर्ष और जेपी द्वारा संचालित छात्र युवा संघर्ष वाहिनी के सदस्यगण जो कि भू-जमींदारी, जल जमींदारी तथा सामाजिक विसंगतियों के खिलाफ लड़ रहे हैं। उनकी चेतना और मजबूरियां भी साथ-साथ चलती हैं। जातीय वर्चस्व भी सर उठाता है और राजनीति को प्रभावित करता है, इस तरह पूरे उपन्यास का शिल्प द्वैत (duality) की संरचना पर आधारित है।

शिवदयाल ने अपनी कथा में पात्रों की विभिन्न श्रेणियों को कलात्मक अभिव्यक्ति दी है। उच्च वर्ग, मध्यमवर्ग, शहरी, ग्रामीण, लुम्पेन, शिक्षा के लिये उद्यमी, संघर्ष में जुटे लोगों की ऐसी तस्वीर जो मानस को छूती है और उद्बलित करती है। सर्वत्र उपन्यासकार की समाजशास्त्रीय विवेचना मर्मस्पर्शी है। युवा वर्ग पूरे विश्व राजनीति पर गहराई से सोचता है पर अपने-अपने विचारों पर दृढ़ है, निष्ठावान है। ऐसी अहिंसक क्रांति भारतीय या विश्व क्रांति परंपरा में अद्वितीय है। इसे उपन्यास की आत्मा को साकार कथात्मकता में ढालकर शिवदयाल ने अपने श्रेष्ठ लेखन का परिचय दिया है।

सभी पात्र अपने स्तर पर जीवन दर्शन की तलाश में हैं, जट्टोजहद में जुटे हैं। बिहार में मूल्यों का नवीन इतिहास लिखा जा रहा है। इसके लिए प्रतिबद्धता, समर्पण और निष्ठा की अनिवार्यता है- जझारू जनसमुदाय इसे अपने-अपने स्तर पर समझ रहा है। शिवदयाल ने विभिन्न स्तर की मानसिकताओं को विश्लेषित किया है। पिता के रोल को भी वर्गगत सोच का परिणाम बताया है। प्रेम के पिता संगति का महत्व बतलाते हैं और प्रेम शिविर और सघन क्षेत्र को जाता है, आंदोलन में भी हिस्सा लेता है। किन्तु उसे नौकरी का विकल्प पारिवारिक मजबूरियों के कारण लेना पड़ता है। उसकी मानसिकता में अमृत गहरे पैठा है। दूसरी ओर शेखर के पिता उच्चवर्गीय अहं और सुविधा भोग के सफल पात्र हैं।

इस प्रकार शिवदयाल ने पूरे समाज को पैनी नजरों से देखा है उस पर सोचा भी है और अपनी क्रांतिकथा में विशिष्ट स्थान दिया है।

सबसे प्रशंसनीय है उसकी नारी संबंधी सोच। नर-नारी प्रेम के आधार पर परिवार की संरचना करते हैं किन्तु यहां भी सामाजिक स्वीकृति की आवश्यकता पर विशेष बल दिया गया है। अपूर्वा ठीक कहती है कि 'हमें अपने को समाज में कम से कम स्वीकार्य तो बनाना ही चाहिए।' शिप्रा भी इसी तरह अमृत से विवाह करना चाहती है और अस्वीकृति की स्थिति में कहती है- 'देहरी लांघ जाऊं सदा के लिये... थामते हो मेरा हाथ?' और अमृत के द्वारा मना करने पर कथा से ही विलुप्त हो जाती है। विवाह के लिये सामाजिक स्वीकृति और नियमों को आवश्यक बताना, 'लिव इन रिलेशन' की अस्वीकृति, जयप्रकाश और प्रभावती को शरीर से ऊपर उठकर दाम्पत्य का सहजीवन बिताने की प्रशंसा और आदर्श प्रस्तुत करना श्लाघनीय है। इस प्रकार नर-नारी के संबंधों में नई सोच का निरूपण किया गया है। दूसरी तरफ महिलाओं के विभिन्न वर्गों के क्रांतिकारी कार्यों का भी वर्णन है। इससे संपूर्ण क्रांति आंदोलन की सही तस्वीर पाठक को मिलती है। किसी भी उपन्यासकार ने अब तक सम्पूर्ण क्रांति आंदोलन के इन मानवीय प्रसंगों को नहीं देखा है। उपन्यासकार की सफलता अपने पात्रों को सम्पूर्णता से देखने में है। उन्हें संपूर्ण मानवजाति का प्रतिनिधि बनाने में है। उसकी प्रतिभा प्रेम और अपूर्वा के संबंधों में स्पष्टतः दिखती है। अपूर्वा के साहित्यिक समीक्षात्मक पत्र में जैनेन्द्र के 'त्याग पत्र', रमेश बक्शी के 'अद्वारह सूरज के पौधे', नरेश मेहता की कहानी- सभी पर सारगर्भित टिप्पणियां हैं। यह पूरी कथा को एक विशिष्ट आयाम देती है। साथ ही प्रेम की और अपूर्वा की साहित्यिक मानसिकता को भी रेखांकित करती है। इसी कारण प्रेम अपनी नौकरी का भी मूल्यांकन करता है और कथा-प्रवाह को जीवन-प्रवाह और काल-प्रवाह तक को समेटता है। वह 'विचलन' और 'फिसलन' की मीमांसा करता है और सोचता है: 'कभी कभी अकेले में सोचता हूँ तो लगता है आदमी क्या-क्या सपने देखा करता है और जिन्दगी क्या से क्या हो जाती है। नौकरी एक पटरी पर चलते जाने जैसा ही है।... इस पर शुरू हो

पुस्तकायन

कर आदमी इसी पर खत्म हो जाता है। जीने के लिये और क्या चाहिए। परिवार, सुख-साधन आखिर सब इस पटरी की बंदौलत ही तो हैं’ इस पटरी पर चलते जाना रेलगाड़ी की पटरी की बरबस याद दिलाता है जिससे इस कथा का सीधा संबंध है। शिविर और सघन प्रदेश की यात्रा के अलावे उपन्यास को बिहार और पूर्वी उत्तर प्रदेश से यही चीज तो जोड़ती है, और जोड़ती है कथा प्रवाह को एक खंड के दूसरे खंड से।

इस प्रकार प्रेम के अन्तर्द्वन्द्व को तीव्रता मिलती है। और प्रेम को नौकरी का सीधा अनुभव उसे यूनियनों, एस्टेब्लिशमेंट के अलावे औद्योगिक प्रतिष्ठानों में व्याप्त जातिवाद, नारी शोषण और शोषण के विभिन्न रूपों का भी प्रत्यक्ष दर्शन होता है। दलित और जनजाति शोषण, बाढ़ और बार-बार विस्थापन सभी का साक्षात्कार होता है।

वह वापस आकर अपूर्वा से शादी करता है, बहन की शादी करवाता है, सुखी परिवार का सदस्य बन जाता है। किन्तु अमृत के प्रति अभी भी उनके हृदय में अगाध श्रद्धा है, प्रेम है। वह पूरी क्रांति का बिखराव देखता है। अमृत की जेल यात्रा और अपमान की बात सुनता है, व्यथित होता है। बिल्कुल टूट जाता है जब उससे अमृत पूछता है ‘तुम्हें क्या लगता है प्रेम, मेरी जरूरत है किसी को?’ वह मौन भाषा में अपने-आपसे कहता है ‘है अमृत, सबको तुम्हारी जरूरत है। सब जीवन में अर्थ पाना चाहते हैं। सब मुक्ति चाहते हैं।’ अमृत तो बिल्कुल जेपी के रूप में उभरता है, उस पर भी जेपी की तरह की छींटाकशी होती है। मगर राष्ट्र को उसकी जरूरत तो है। सपनों में ही युवा जीवन्त रहता है।

शिवदयाल ने अपने उपन्यास शिल्प में भाषा का अद्भुत प्रयोग किया है। वर्णनात्मक, काव्यात्मक, विभिन्न विधाओं में प्रयुक्त भाषा, बांग्ला लहजा, बिहारी हिन्दी,

पूर्वी हिन्दी, अंग्रेजी के शब्द, अंग्रेजी वाक्य, पत्र, कविता, प्रतीक, बिम्ब सबों पर उसकी साहित्यिक और कलात्मक पकड़ है। पत्रों की तो इस उपन्यास में महत्वपूर्ण और निर्णायक भूमिका है। मगर इस उपन्यास में कभी भी साहित्यिक बोझिलता नहीं आयी है। शिवदयाल अपने सामाजिक और सृजनात्मक सरोकारों में भाषा के प्रश्न को कितना महत्व देते हैं, यह इस छोटी सी टिप्पणी से स्पष्ट हो जाता है: “आदमी महावरो के बिना लगता है जी नहीं सकता। हर स्थिति-परिस्थिति में ढलने के लिए महावरे तैयार कर लेता है, बल्कि जिंदगी का भी एक महावरा बना लेता है। लेखक भी शायद इसीलिए वही सिद्ध माना जाता है जिसने अपने लेखन का अलग ‘महावरा’ विकसित कर लिया हो। महावरा उससे कहीं अधिक कछ है जो हम समझते आए हैं, यह किसी भाषा के सामर्थ्य का ही परिचायक नहीं, सभ्यतागत अनुभवों का द्योतक भी है। महावरे, कहावते, पहेलियां - हमारा सांस्कृतिक स्तर भी उद्घाटित होता है इनमें।..’ प्रेम, अमृत, अपूर्वा, स्वप्निल, संकेतात्मक नाम हैं। नामकरण में हिन्दी-संस्कृत की छाप है तो द्वैत पर आधारित इस कथा को दार्शनिक धरातल पर पहुंचाने की समर्थता भी है। सद्-असद्, हिंसा-अहिंसा को मिथकीय शीर्ष पर पहुंचाने का श्रेयस्कर कार्य शिवदयाल ने किया है- ‘जो अमृत घट हमने अपने लिये सुलभ किया था संसार की सबसे कठोर, सबसे दुर्दमनीय सत्ताओं से लड़-जूझकर, वह कबका चोरी चला गया है। उसे हमें वापस पाना है।’ इसी कारण प्रेम दृढ़ता से मुस्कराते हुए कहता है, ‘हां अमृत, बचे रहोगे। तुम्हें रहना होगा।’ यही आशा ‘एक और दुनिया होती’ को सार्थक बनाती है और उसका स्थान साहित्य जगत की श्रेष्ठ उपन्यास-परम्परा में सुरक्षित रखती है।

समीक्ष्य कृति : ‘एक और दुनिया होती’ (उपन्यास)

लेखक - शिवदयाल

प्रकाशक - अनन्य प्रकाशन, नई दिल्ली।

मूल्य - 195/-

समीक्षक : डॉ. शैलेश्वर सती प्रसाद

संपर्क : शिव दयाल, उदयाचल, श्रीराम पथ, नया जक्कनपुर, पटना - 800001 मो० 9835263930

मुक्ताचल जनवरी-मार्च 2023

102

डॉ. अमरनाथ हिंदी के प्रतिष्ठित आलोचक और विद्वान भाषाविद हैं। 'हिंदी आलोचना का आलोचनात्मक इतिहास' डॉ. अमरनाथ की सद्यः प्रकाशित आलोचनात्मक पुस्तक है जो अपनी विषय की गंभीरता, शैली के टटकेपन, ज्ञान पूर्णता, तथ्यात्मकता, रोचकता और पठनीयता के लिए महत्वपूर्ण है। इस पुस्तक की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि यह हिंदी साहित्य के इतिहास की पुस्तक नहीं, बल्कि हिंदी आलोचना के इतिहास को आलोचनात्मक नजरिए से देखने और परखने का ग्रंथ है। साहित्य के इतिहास की पुस्तकें तो लंबे समय से रची जाती रही हैं, परन्तु आलोचना के इतिहास की यह अपने ढंग की अनोखी पुस्तक है। हिंदी आलोचना के इतिहास में मौजूद विसंगतियों और उन विसंगतियों से उपजे सवाल से टकराते हुए उनका सर्वथा सटीक, तार्किक और प्रमाणिक उत्तर डॉ. अमरनाथ ने अपनी पुस्तक 'हिंदी आलोचना का आलोचनात्मक इतिहास' में प्रस्तुत किया है। रचना और आलोचना के बीच अन्योन्याश्रित संबंध होता है। आलोचना ही रचना को सार्थकता प्रदान करती है और उसे अधिक ग्राह्य और उपयोगी बनाती है। इसलिए जब कोई रचना होती है तो उसकी आलोचना भी किसी ना किसी रूप में अवश्य होती है। इस दृष्टिकोण की स्पष्ट अभिव्यक्ति पुस्तक की भूमिका में अमरनाथ जी ने इस प्रकार की है- "दरअसल आलोचना का विकास रचना के साथ ही होता है। रचना पर संतुलित प्रतिक्रिया ही आलोचना होती है। इसलिए जिस समय से हम हिंदी साहित्य के सृजन का इतिहास स्वीकार करते हैं उसी समय से उसकी आलोचना का इतिहास भी स्वीकार करना होगा। हां, यह सच है कि आधुनिक युग में गद्य के विकास और छापाखाने की सुविधा के चलते आलोचना में अभूतपूर्व विस्तार हुआ, किंतु हिंदी साहित्य के इतिहास के साथ ही हिंदी आलोचना के विकास का इतिहास भी जुड़ा हुआ है।"

हिंदी आलोचना का आलोचनात्मक इतिहास नामक अपनी सद्यः प्रकाशित पुस्तक को डॉ. अमरनाथ जी ने एक संक्षिप्त प्रवेश: 'हिंदी आलोचना का स्वरूप और उसकी प्रकृति' के अतिरिक्त कुल इक्कीस सोपानों में विभक्त कर लिखा है। पुस्तक में लेखक द्वारा अध्यायों के लिए 'सोपान' शब्द का प्रयोग हिंदी आलोचना की विकासात्मक प्रवृत्ति की ओर संकेत करता है। पुस्तक का पहला सोपान हिंदी आलोचना की विरासत पर केंद्रित है। इसमें उन्होंने हिंदी आलोचना की विरासत को संस्कृत में निहित बताया है और इस बात पर जोर दिया है कि हिंदी के आलोचना शास्त्र को समझने के लिए संस्कृत की महान विरासत को समझना आवश्यक है क्योंकि हिंदी आलोचना का उत्स संस्कृत से ही है। पुस्तक के दूसरे सोपान में अमरनाथ जी ने मध्यकालीन हिंदी आलोचना को प्राचीन विरासत के विस्तार के रूप में दिखाया है और संक्षिप्त रूप से लक्षण ग्रंथों की प्रणयन परंपरा, टीका पद्धति और सूक्तियों की परंपरा का जिक्र किया है। हिंदी में शुद्ध व्यवहारिक आलोचना या आधुनिक आलोचना का सूत्रपात भारतेंदु युग में गद्य के विकास के साथ-साथ हुआ। वस्तुतः यही वह कालखंड था जिसमें आधुनिक हिंदी आलोचना ने अपने स्वरूप को स्थिर और स्पष्ट किया। नवजागरण, पत्र-पत्रिकाओं के विकास तथा भारतेंदु, बालकृष्ण भट्ट और बंजीनारायण चौधरी

पुस्तकायन

प्रेमघन जैसे साहित्यकारों ने इस दौरान हिंदी आलोचना के विकास में महत्वपूर्ण योगदान दिया। पुस्तक का तीसरा सोपान इसी पर केंद्रित है। तथा चौथे सोपान में व्यावहारिक आलोचना के अगले चरण के रूप में द्विवेदी युगीन हिंदी आलोचना के विकास और उनमें आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी, मिश्रबंधु, बालमुकुंद गुप्त, श्यामसुंदर दास तथा गुलाब राय के अवदान की चर्चा है। पांचवा सोपान आचार्य रामचंद्र शुक्ल की आलोचना पद्धति पर केंद्रित है जहां से हिंदी में वैज्ञानिक आलोचना दृष्टि का विकास होता है। पुस्तक का छठा सोपान शास्त्रीय व व्याख्यात्मक आलोचना पर केंद्रित है। इस सोपान में पदमसिंह शर्मा, लाला भगवानदीन, कृष्ण बिहारी मिश्र, रमाशंकर शुक्ल, जगन्नाथप्रसाद शर्मा, विश्वास प्रसाद मिश्र, लक्ष्मीनारायण सधांशु, राममूर्ति त्रिपाठी, विष्णु कांत शास्त्री जैसे हिंदी के पैतीस से अधिक आलोचकों के मतों-सिद्धांतों और उनके आलोचना कर्म का विवेचन किया गया है। अनुसंधानपरक आलोचना पर केंद्रित सातवें सोपान में डॉ. अमरनाथ जी ने गासां द तासी, ग्रियर्सन, तेस्सीतरी, परशुराम चतुर्वेदी, धीरेन्द्र वर्मा, वासुदेव शरण अग्रवाल, हजारी प्रसाद द्विवेदी, कामिल बुल्के, लक्ष्मीसागर वर्षण्य, कन्हैया सिंह, रूपा गुप्ता, वीर भारत तलवार, नंदकिशोर पांडेय जैसे वरिष्ठ आलोचकों के अतिरिक्त अन्य कई महत्वपूर्ण आलोचकों के अनुसंधानपरक आलोचना कर्म का वर्णन किया है। पुस्तक का आठवां सोपान पाठालोचना पर केंद्रित है जिसमें पाठालोचन के स्वरूप और उसके महत्व पर जगन्नाथदास रत्नाकर, रामवृक्ष बेनीपुरी पीतांबरदत्त बड़वाल, किशोरी लाल गुप्त, नलिन विलोचन शर्मा, आनंद प्रकाश दीक्षित जैसे आलोचकों के पाठालोचना संबंधित रचनात्मक कर्म का विवेचन किया गया है। नवों सोपान छायावादी आलोचना पर केंद्रित है। इस सोपान में छायावादी आलोचना पद्धति और प्रमुख छायावादी कवियों की आलोचना दृष्टि पर प्रकाश डाला गया है। गांधीवादी आलोचना पर केंद्रित दसवां सोपान पुस्तक को विशिष्ट बनाता है। इस सोपान में गांधी दर्शन और उसके प्रभाव, लोहिया और गांधी दर्शन तथा गांधी दर्शन पर हिंदी आलोचना पर प्रकाश डाला गया है। साथ ही संबंध में नंददुलारे वाजपेई, शांतिप्रिय द्विवेदी, नगेन्द्र, देवराज, विजयदेव नारायण साही,

विश्वनाथ प्रसाद तिवारी, कृष्णदत्त पालीवाल, नंदकिशोर आचार्य, शंभूनाथ, पुरुषोत्तम अग्रवाल, गोपेश्वर सिंह और दयाशंकर प्रभृति आलोचकों के विचारों की चर्चा की गई है। पुस्तक का ग्यारहवां सोपान प्रगतिवादी आलोचना पर केंद्रित है, जिसमें प्रगतिवादी आलोचना के दार्शनिक पृष्ठभूमि के विश्लेषण के साथ ही प्रकाश चंद्र गुप्त, रामविलास शर्मा, मुक्तिबोध, अमृतराय से लेकर शिवकुमार मिश्र, नामवर सिंह, विश्वनाथ त्रिपाठी, नंदकिशोर नवल, खगेंद्र ठाकुर, मैनेजर पांडेय के अतिरिक्त कर्मेन्द्र शिशिर, अजय तिवारी, अभय कुमार दुबे और वैभव सिंह जैसे समकालीन प्रगतिवादी-मार्क्सवादी आलोचकों की आलोचना कर्म का परिचय प्राप्त होता है।

पुस्तक में बारहवां से उन्नीसवां सोपान क्रमशः हिंदुत्ववादी आलोचना, नई आलोचना, लोकधर्मी काव्यालोचना, कथा आलोचना, नाट्य साहित्य आलोचना, लोक साहित्य आलोचना, शैली वैज्ञानिक आलोचना तथा उर्दू साहित्य आलोचना पर केंद्रित है। हिंदुत्ववादी आलोचना शीर्षक सोपान पुस्तक के नयेपन और वैशिष्ट्य को उजागर करता है। हिंदुत्ववादी आलोचना की दार्शनिक पृष्ठभूमि के पीछे लेखक ने हिंदुत्ववादी जीवन दर्शन की उपस्थिति को रेखांकित किया है तथा इसको राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के वैचारिक स्रोत से ठीक उसी प्रकार प्रेरित और प्रभावित बताया है जिस प्रकार प्रतिवादी आलोचना के विकास के पीछे मार्क्सवादी जीवन दर्शन की उपस्थिति को देखा जाता रहा है। नई आलोचना शीर्षक सोपान में हिंदी साहित्य में नयी कविता और नयी कहानी के साथ विकसित हुई नयी आलोचना की चर्चा करते हुए उसकी विशेषताओं और हिंदी कविता के लोक से अलगाव की समस्या और आलोचक और कवि के गठजोड़ की संस्कृति का जिक्र किया गया है। साथ ही नयी समीक्षा के अनेक आलोचकों के आलोचनात्मक अवदान की चर्चा की गयी है। लोक और साहित्य एक दूसरे को समृद्ध करते हैं। गीत और गज़ल विधा का लोक से गहरा संबंध होता है। नई समीक्षा की उपेक्षा के शिकार इन विधा के रचनाकारों ने रचना के साथ-साथ आलोचना में भी महत्वपूर्ण कार्य किया और इन विधाओं के आलोचना संसार को स्थापित, समृद्ध और विस्तृत

पुस्तकायन

किया। नचिकेता, वशिष्ठ अनूप और ज्ञानप्रकाश विवेक इस लोकधर्मी काव्यालोचना के प्रमुख रचनाकार-आलोचक हैं। हिंदी में कथा आलोचना और नाट्य साहित्य आलोचना की दीर्घ परंपरा रही है। इन विधा के आलोचना संसार और प्रमुख आलोचकों के रचनात्मक अवदान की संतुलित और सारगर्भित चर्चा पुस्तक को विस्तार प्रदान करती है। लोक साहित्य की आलोचना पर केंद्रित सत्रहवें सोपान लोक साहित्य का स्वरूप और उसके चरित्र के साथ हिंदी लोक साहित्य के वैविध्य और उसके विस्तार पर केन्द्रित है। साहित्य की आलोचना में विषय वस्तु के साथ-साथ रूप और शिल्प भी महत्वपूर्ण होती है। शैली वैज्ञानिक आलोचना साहित्य को सामान्य भाषा के रूप में नहीं बल्कि विशिष्ट अभिव्यक्ति-साहित्य के रूप में ग्रहण करती है। अठारहवें सोपान शैली वैज्ञानिक आलोचना की इन विशेषताओं के साथ उसकी मुख्य अवधारणा और उसकी सीमाओं का भी परिचय देता है। उन्नीसवें सोपान हिंदी और उर्दू के साहित्य के अलग-अलग अध्ययन और आलोचना के प्रश्न पर केन्द्रित है। हिंदी और उर्दू एक ही भाषा की दो शैलियाँ हैं। परन्तु उनके साहित्य को अलग अलग बॉट कर पढ़ा जाता है जबकि हिन्दुस्तानी सामासिक संस्कृति के ठीक ठीक अध्ययन के लिए हिन्दी के साथ उर्दू साहित्य का अध्ययन भी आवश्यक है। परन्तु यह दुर्भाग्य ही कहा जाएगा कि हिन्दी आलोचना ने बहुत ही गैरजिम्मेदाराना ढंग से उर्दू को अपने से दूर कर दिया जिसके कारण कबीर तुलसी और निराला के श्रेष्ठ साहित्य को पढ़ने वाला विद्यार्थी मीर, गालिब,

फिराक और फ़ैज़ के महत्वपूर्ण साहित्य को पढ़ने से वंचित रहने लगा। पुस्तक के अंतिम दो सोपान अस्मितावादी आलोचनःविखंडन और नए विमर्श तथा 'मीडिया समीक्षा' के विषय पर आधारित हैं। वैश्वीकरण और उत्तर आधुनिक परिस्थितियों के साथ पूंजीवाद के वर्चस्व और बाजार के बढ़ते प्रभाव और पश्चिमी ढंग के नकल वाली फैशन के कारण निर्मित और विकसित होती परिस्थितियों में हिन्दी आलोचना में दलित, स्त्री और आदिवासी विमर्श केन्द्रित साहित्य को हिन्दी आलोचना ने किस प्रकार जॉचा-परखा इसकी व्यवस्थित जानकारी पुस्तक के बीसवें सोपान से मिलती है। अंतिम सोपान मीडिया समीक्षा में मीडिया की शक्ति और स्वरूप के साथ टेलिविजन, सिनेमा और पत्रकारिता के आलोचनात्मक पक्ष को बहुत सुंदर ढंग से विश्लेषित किया गया है।

हिन्दी आलोचना के इतिहास को आलोचनात्मक दृष्टिकोण से देखने का प्रयास करती इस पुस्तक में गांधीवादी आलोचना, हिन्दुत्ववादी आलोचना, लोकधर्मी काव्यालोचना, उर्दू साहित्य आलोचना और मीडिया समीक्षा नामक सोपान बिल्कुल नये हैं। ये अध्याय या सोपान इस पुस्तक विशिष्ट बनाते हैं। अपनी संपूर्णता में डॉ. अमरनाथ जी की यह पुस्तक हिन्दी आलोचना के इतिहास के अध्ययन-विश्लेषण के लिए एक अत्यंत महत्वपूर्ण ग्रंथ सिद्ध होती है।

लेखक - डॉ० अमरनाथ

प्रकाशक - राजकमल प्रकाशन प्रा० लि०

1-बी, नेताजी सुभाष मार्ग दरीयागंज

नई दिल्ली - 110002

पहला संस्करण - 2022

मूल्य - 500

समीक्षक - मोहन कुमार

संपर्क : शोधार्थी, हिन्दी विभाग, बनारस हिन्दू यूनिवर्सिटी

खबरो की दुनिया में (काव्य संग्रह) - सदानन्द सुमन

महेश कटारे

सदानन्द सुमन के संग्रह 'खबरो की दुनिया में' की कविताएं पाठक को अनुभूति और सहानुभूति के उस बिंदु तक ले जाती हैं जहां विसंगतियों व अनाचारी व्यवस्था के प्रति मन में दोष और संघर्ष उपजने लगते हैं। रचना में यह जुझारू तेवर तभी आ पाता है जब रचनाकार कलावादी चमत्कारों के मोह में न उलझकर अपनी बात को प्रखर, बेलाग, सहज भाषा में व्यक्त करता है, जब अनुभवों के रूपायण और संप्रेषण में कोई बनावट नहीं होती। इन अनुभवों में कवि की स्थिति बाहरी दर्शक की नहीं, सहभोक्ता की है। कवि अपनी जमीन पर भोगे-भुगते जाते आह, उच्छ्वास, कसमसाहट-मिसमिसाहट भरे समय को दर्ज करता है। यूँ तो हर कवि, कलाकार की रचनाओं में उसकी किसी न किसी अनुभूति और बोध की परछाईयां होती हैं पर, सदानन्द सुमन इन्हें लेकर आत्मरति की रंगशाला में न लौटते हुए एक बेचैनी के साथ कविता में व्यक्त करते हैं.....। यह बेचैनी प्रायः चीखती नहीं बल्कि भीतर-भीतर सुलगते हुए एक खास तेवर के साथ पिघलती है। कविता इनके यहां शगल नहीं दायित्व है। बेशक यह पक्षधरता की कविताएं हैं और अपनी पक्षधरता को वह 'सोच का रंग' में स्पष्ट भी करते हैं गो कि यह कविता तब की है जब चीन में 'शेन आन मन' का नरसंहार घटित नहीं हुआ था और पैरोइकाव ग्लासनोस्त की ओर मुड़ते सोवियत संघ का विघटन नहीं हुआ था। संग्रह में 1990 में लिखी एक कविता है 'हमारा डर'। आज 2022 में वह डर बिल्कुल सामने आ खड़ा हुआ है- "अब जबकि /केन्द्रित होने लगी हो/राजनीति सारी / मंदिर,मस्जिद और/गुरुद्वारे के गर्भगृहों में /हमारा डरना वाजिब है"। ऐसे ही "जनता के लिए", 'इससे पहले कि.....' "उसने कहा", 'कविता का दायित्व' जैसी बीसियों कविताएं हैं जो जनता के हक में यथास्थिति से असहमति व प्रतिरोध का स्वर हैं। मुझे नहीं लगता कि आलोचना के प्रचलित खांचे में ये अंट पाएंगी क्योंकि धूमिल और उस परम्परा के कुछ कवियों के बाद ये ही वे कविताएं हैं जो विमर्शवाद की "अपनी-अपनी" से हटकर सही मुद्दों पर बेचैनी जगाती हैं। संग्रह में 1974 से 2000 तक कविताओं में दर्ज समय है। यह जानने की उत्सुकता रहेगी कि सदानन्द सुमन 2000 के बाद के समय को कैसे दर्ज करते हैं।

पुस्तक का नाम : खबरो की दुनिया में

समीक्षक : महेश कटारे

कवि : सदानन्द सुमन

प्रकाशक : पुस्तक भवन, आर जेड, 65 बी, गली नं० 1

के कैलाशपुरी एक्सटेंशन, नई दिल्ली-110045

मूल्य : 295/

संपर्क : निराला नगर, सिंहपुर रोड, मुरार, ग्वालियर-474006 (म०प्र०), मो० : 9425364213

राष्ट्रीय-सांस्कृतिक कविता का अद्यतन

पंकज कुमार सिंह

भारत का स्वाधीनता आंदोलन आधुनिक समय का सबसे विशिष्ट जनांदोलन है। इसमें परस्पर भिन्न विचारधाराओं, पंथों तथा मान्यताओं वाले लोगों ने एकसाथ मिलकर उस समय की सबसे समृद्ध और विशाल औपनिवेशिक सत्ता को भारत छोड़ने के लिए विवश कर दिया। इस आंदोलन ने दुनिया के सम्मुख एकता की उस मिसाल को प्रस्तुत किया जो भारत की महान संस्कृति का ही एक अंग है। इसमें देश अपनी संस्कृति की रक्षा के लिए एकीकृत हो उठा, क्षेत्रीय विषमताओं की खाई कम हो गयी, शहर और गाँव एक हो गए, जातिगत व्यवस्था कमजोर हुई। इस सांस्कृतिक एकता ने महान ब्रिटिश साम्राज्य को घुटने टेकने पर बाध्य कर दिया। उल्लेखनीय है कि यह आंदोलन भी अपने प्रारंभिक चरण में आम-जन को आकर्षित नहीं कर सका था। इस चरण में छिटपुट विद्रोह अवश्य होते रहते थे, लेकिन इसका अखिल भारतीय स्वरूप पहली बार स्वदेशी आंदोलन के रूप में ही दिखाई देता है। बंगाल विभाजन के उपरान्त देश अप्रत्याशित रूप से अंग्रेजों की अंधेरगद्दी के खिलाफ सड़कों पर उतर आया। ‘आंदोलन की विशेषता यह थी कि इसका दायरा महज राजनीति तक सीमित नहीं था। कला, साहित्य, संगीत, विज्ञान, उद्योग व अन्य क्षेत्रों में भी इस आंदोलन का असर पहुँचा। तात्पर्य यह कि समाज का हर तबका इस आंदोलन से किसी-न-किसी रूप में जुड़ गया।’¹

स्वदेशी आंदोलन ने जन-जन में राष्ट्रीय चेतना का संचार कर दिया। आगे चलकर महात्मा गांधी के नेतृत्व में इस जनांदोलन को नई ऊर्जा प्राप्त हुई। माखनलाल चतुर्वेदी, रामनरेश त्रिपाठी, सोहनलाल द्विवेदी, सुभद्रा कुमारी चौहान, सूर्यकांत त्रिपाठी ‘निराला’, बालकृष्ण शर्मा ‘नवीन’, रामधारी सिंह ‘दिनकर’ जैसे कवियों ने अपनी रचनाओं के द्वारा भारतवासियों को अपने देश की अस्मिता की रक्षा के लिए आह्वान किया। ये कवि स्वयं स्वतंत्रता के सबसे बड़े पैरोकार थे, फलतः इनकी रचनाओं में देश की आजादी के लिए ऊँची तान सुनाई पड़ती है। माखनलाल चतुर्वेदी ने जबलपुर सेंट्रल जेल से ‘कैदी और कोकिला’ कविता लिखकर कैद में पड़ी कोकिला (देश) के प्रति जनता का ध्यान खींचा है। वे कोकिल को अपने अधिकारों के प्रति सचेत करते हैं। वे जानते हैं कि अगर समवेत स्वर में ललकारा जाए तो पराधीनता के दंश से मुक्ति अवश्य मिल जाएगी। इसीलिए वे कहते हैं-

“क्या? घुस जायेगा स्दन
तुम्हारा निश्वासों के द्वारा,
कोकिल बोलो तो!
और सवेरे हो जायेगा
उलट-पुलट जय सारा,
कोकिल बोलो तो!”²

शोधार्थी की कलम से

इन कवियों ने जनता को देश की पराधीन स्थिति का बोध तो कराया ही, साथ-ही-साथ उनके मनोबल को बढ़ाने के उद्देश्य से अपने गौरवशाली इतिहास की स्मृति भी बार-बार दिलाई। कहने का आशय यह है कि राष्ट्रीय-सांस्कृतिक धारा के कवियों ने अपनी कविताओं में देश की दारुण स्थिति के प्रति जनता को एक ओर तो सचेत किया तो वहीं दूसरी ओर इनमें प्रतिकार का स्वर भी सुनाई देता है। बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' ने भारतवासियों को जगाने के उद्देश्य से ही 'चिरदोहित' और 'भिखमंगे' कहा है, जिससे उन्हें अपनी स्थिति का भान हो सके-

‘ओ भिखमंगे, अरे पराजित, ओ मज़लूम, अरे चिरदोहित,

तू अखण्ड भंडार शक्ति का, जाग अरे निद्रा-सम्प्रादित

प्राणों को तड़पाने वाली हुंकारों से जल-थल भर दे,
अंगारों के अंबारों में अपना ज्वलित पलीता भर दे।’³

इससे पूर्व भारतेन्दु और कमोवेश द्विवेदी युगीन कवियों ने देश की दुर्दशा पर आँसू बहाया तो वहीं राष्ट्रीय और सांस्कृतिक धारा के कवियों ने देश को आजाद कराने के उद्देश्य से विप्लव का शंखनाद किया। वे स्वयं इस स्वतंत्रता संग्राम में कूद पड़े। उन्होंने अपनी आजादी के लिए ‘केशव’ (भारतेन्दु- ‘कहां करुणानिधि केसव सोए’) को नहीं खोजा अपितु वे स्वयं अपने देश को जगाने पर लग गए। महाकवि जयशंकर प्रसाद ने जहाँ हिमालय की ऊँची चोटियों से माँ भारती की स्वतंत्रता के पुकार को सुना तो वहीं महाकवि निराला ने माँ भारती की जय-विजय के लिए जनता को एक बार फिर जगाने का बीड़ा उठाया। ‘इन कवियों ने वर्तमान को अतीत से संबद्ध करके वर्तमान में उत्साह और महानता का उद्बोध करने का प्रयास किया। इस संदर्भ में कवियों का ध्यान उन्हीं कर्म, ज्ञान, निष्ठा, सत्य, साधना, सहिष्णुता आदि मूल्यों की ओर गया, जो समकालीन जीवन के लिए भी आदर्श बन सकते हैं। इस प्रकार यह ‘जीवंत अतीत’ की खोज का प्रयास था, जिसमें साधकों, चिंतकों और कवियों ने मिलकर योग दिया।’⁴ यह वही समय है जिसका नेतृत्व महात्मा गांधी कर रहे थे। वे 1915 में भारत लौटे और उसके उपरांत उन्होंने देश की वास्तविक

स्थिति को जानने तथा समझने के उद्देश्य से पूरे देश का दौरा किया। इसके अगले ही वर्ष चंपारण में नील की परंपरागत खेती को ‘तिनकठिया प्रथा’ में बाँधकर जनता का शोषण करने वाली व्यवस्था का उन्होंने सविनय प्रतिकार किया। अहमदाबाद में औद्योगिक मजदूरों के प्लेग, बोनस का भी उन्होंने बचाव किया। इसी आंदोलन में गांधी जी पहली बार अनशन पर बैठे। इसी समय गुजरात के ही खेड़ा में सरकार और किसानों के बीच लगान को लेकर भी एक विवाद चल रहा था। किसानों की शोषण अंग्रेजी सरकार किसानों से जबरन लगान वसूल रही थी, जबकि उनकी फसल भयंकर सूखे के कारण नष्ट हो चुकी थी। गांधी जी ने किसानों से लगान न देने की शपथ दिलाई और अंततः सरकार को गांधी जी की माँग को मानने पर बाध्य होना पड़ा। इन आंदोलनों में गांधी जी ने सत्य और अहिंसा जैसे प्रेरक मूल्यों का बखूबी प्रयोग किया। सत्याग्रह और असहयोग आंदोलन ने भारत के स्वाधीनता आंदोलन को और तेज कर दिया। संभवतः शायद ही ऐसा कोई क्षेत्र अथवा व्यक्ति होगा, जिसे गांधीवादी विचारधारा ने उस समय आकृष्ट न किया हो। कवि रामनरेश त्रिपाठी ने अपने ‘पथिक’ खण्डकाव्य में गांधी जी को ठीक वैसे ही चरित्रनायक बनाया जैसे प्रेमचंद ने रंगभूमि में सूरदास को बनाया था। पथिक को गृहस्थ सुख की लालसा नहीं है, अपितु वह अपने देश को स्वतंत्र कराने के लिए अकेले ही निकल पड़ता है। वह देखता है-

“धधक रही सब ओर भूख की ज्वाला है घर-घर में,
मांस नहीं है, निरी सांस है शेष अस्थिपंजर में”⁵

जिस समय त्रिपाठी जी ने पथिक की रचना की उस समय देश में गांधी जी के नेतृत्व में असहयोग आंदोलन छिड़ा हुआ था। इसका पूरा प्रभाव इस रचना पर दिखाई देता है। पथिक का नायक ‘साथ न दो नृप का कोई उसके अधर्म शासन’ में कहकर असहयोग आंदोलन के ही मूल को दोहराता है। पथिक के साथ जनता वैसे ही खड़ी दिखाई देती है, जैसे गांधी जी के साथ उस समय खड़ी थी। उसे भी शासन-तंत्र का कोपभाजन होना

शोधार्थी की कलम से

पड़ता है, लेकिन क्रांतिकारी पथिक अपने मार्ग से विचलित नहीं होता-

“बहकाकर तू मूढ़ प्रजा को स्वार्थ सिद्ध करता है
ईश्वर के प्रतिनिधि महीप से नेक नहीं डरता है”⁶

स्वतंत्रता आंदोलन में स्त्रियों की भी प्रमुख भूमिका रही। अठारह सौ सत्तावन के प्रथम स्वतंत्रता संघर्ष से ही यदि देखा जाए तो झांसी में रानी लक्ष्मीबाई ने तथा लखनऊ में बेगम हजरत महल ने आंदोलन का नेतृत्व किया था। इनके साथ असंख्य स्त्रियाँ भी हाथों में खड़ग लिये अंग्रेजी सेना का मुकाबला कर रही थीं। कादंबिनी गांगुली, एनी बेसेंट, सरोजिनी नायडू, बीना दास, शांति घोष, सुनीति चौधरी, अरूणा आसफ अली, सुचेता कृपलानी, हंसा मेहता, कमला देवी चटोपाध्याय आदि स्त्रियों ने भारत की आजादी के लिए अपना संपूर्ण जीवन लगा दिया। एनी बेसेंट, सरोजिनी नायडू तथा नेली सेनगुप्ता ने भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के अध्यक्ष पद को सुशोभित किया था। सविनय अवज्ञा आंदोलन के दौरान स्त्रियाँ घर से बाहर निकलीं और विदेशी वस्त्र बेचने वाले दुकानों पर तथा शराब की दुकानों पर धरना देने लगीं। सरोजिनी नायडू ने धरसणा नामक सत्याग्रह का नेतृत्व किया। “नागालैंड ने रानी गिडालू जैसी वीरांगना को जन्म दिया। इस वीर बाला ने मात्र 13 वर्ष की आयु में कांग्रेस और गांधी जी के आह्वान पर विदेशी शासन के खिलाफ विद्रोह का झण्डा उठा लिया। 1932 में यह युवा रानी पकड़ी गई और उसे आजीवन कारावास की सजा मिली।”⁷ भारत छोड़ो आंदोलन के दौरान उषा मेहता ने गुप्त रेडियो का प्रसारण संभाला तो वहीं अरूणा आसफ अली तथा सुचेता कृपलानी ने भूमिगत आंदोलन में अपनी सक्रिय उपस्थिति से अंग्रेजों के नाक में दम कर दिया। रामनरेश त्रिपाठी ने अपने ‘मिलन’ खण्डकाव्य में विजया हाथों में त्रिशूल देकर देशोद्धार के संकल्प को दोहराया है-

“लिए त्रिशूल हाथ में करने चली देश उद्धार,
गाँव-गाँव में लगी घूमने सेवाव्रत उर धार
द्वार-द्वार पर जाकर विजया कसणा प्रेम निधान
सबको लगी जगाने गाकर देशभक्ति-मय गान।”⁸

गांधी जी के भारत आगमन के पश्चात हम देखते हैं कि स्वाधीनता आंदोलन में पुरुषों के साथ-साथ स्त्रियाँ भी बढ़-चढ़ कर प्रतिभागिता करती हैं। वे कहीं-कहीं तो संपूर्ण आंदोलन की ही बागडोर संभाले दिखाई देती हैं। असहयोग आंदोलन को सफल बनाने के उद्देश्य से सुभद्रा कुमारी चौहान ने विजया दशमी नामक कविता में सबल पुरुषों के भीरु बनने की दशा में अबलाओं को स्वतंत्रता संग्राम में उतरने के लिए प्रेरित करती हैं। वे कहती हैं-

“सबल पुरुष यदि भीरु बनें तो हमको दे वरदान सखी
अबलाएँ उठ पड़े देश में, करें युद्ध घमासान सखी!
पंद्रह कोटि असहयोगिनियाँ, दहला दे ब्रह्मांड सखी
भारत लक्ष्मी लौटाने को, रच दे लंकाकाण्ड सखी!”⁹

स्पष्ट है कि जहाँ भारतेंदु और द्विवेदी युग के कवियों ने अबलाओं की स्थिति पर आँसू का उद्गार प्रकट करके उन्हें कमजोर मान लिया, वहीं राष्ट्रीय-सांस्कृतिक धारा के कवियों ने स्त्रियों को घर की चारदीवारी को लांघ कर उन्हें स्वतंत्रता संघर्ष में शामिल कर लिया। इनके लिए आँचल का दूध और आँखों का पानी भी देश की अस्मिता पर न्यौछावर हो गया। संकट के समय ये वीर स्त्रियाँ हाथों में अस्त्र सजोए स्वतंत्रता संग्राम में कूद पड़ती हैं। पुरस्कार कैसा कविता में सुभद्रा कुमारी चौहान कहती हैं-

“क्षत्राणी हूँ, सुख पाने दे, अस्त्रामृत की धारों से
बनने दे इतिहास देश का पानी चढ़े दुधारों से”¹⁰

राष्ट्रीय-सांस्कृतिक कविता का मूल उत्स है- देशभक्ति। इसकी संकल्पना केवल आर्थिक और राजनीतिक स्वाधीनता पर निर्भर नहीं है, अपितु यह स्वयं में विराट संकल्पना है। भारत का स्वाधीनता आंदोलन इस अर्थ में विशिष्ट है कि इसमें केवल औपनिवेशिक दासता से मुक्ति की ही बात नहीं हुई है, अपितु यह क्षेत्रीय संकीर्णता से ऊपर उठकर कर संपूर्ण राष्ट्र की एकता की बात करता है। यहाँ साम्राज्यवाद के साथ-साथ सामंतवाद से भी मुक्ति के संकल्प लिए गए हैं। कहना न होगा कि भारत के स्वाधीनता आंदोलन का फलक अत्यंत विस्तृत है। इसमें देश को राजनीतिक रूप से मुक्त कराने के

शोधार्थी की कलम से

अतिरिक्त जनता को शोषक वर्ग से भी मुक्त कराने का उद्देश्य निहित है। यही कारण है कि इसमें हम कृषक और श्रमिक आंदोलनों को भी स्वाधीनता आंदोलन के साथ सामंजस्य स्थापित करते हुए देखते हैं। चंपारण का किसान आंदोलन, खेड़ा का किसान आंदोलन, अवध का किसान आंदोलन तथा बारदोली का किसान आंदोलन इसके प्रमाण हैं। इसके अतिरिक्त स्वदेशी आंदोलन से लेकर अहमदाबाद के मिल मजदूरों के आंदोलन में श्रमिक वर्ग की सक्रियता सामंती मानसिकता पर प्रहार के ही उदाहरण हैं। महाकवि निराला ने अपनी रचना 'बादल-राग' में इसी सामंती मानसिकता पर प्रहार किया है। कवि कृषकों के साथ खड़े होकर विप्लव के वीर बादलों को क्रांति के लिए पुकारता है-

“विप्लव रव से छोटे ही हैं शोभा पाते

तुझे बुलाता कृषक अधीर

ऐ विप्लव के वीर!”¹¹

सविनय अवज्ञा आंदोलन के समय अप्रत्याशित रूप से गरीब और निरक्षर जनता भी देश के स्वाधीनता आंदोलन में कूद पड़ी। इसके पूर्व इनकी संख्या कम ही थी लेकिन, इस आंदोलन ने आम जन को भी स्वतंत्रता संग्राम से जोड़ दिया। जल्दी ही लोगों का विश्वास गांधी जी की विचारधारा से उठने लगा था। इसके पीछे कारण था- गांधी-इरविन समझौता। इस समझौते के परिणाम स्वरूप केवल उन्हीं लोगों को अंग्रेजी सरकार ने रिहा किया जो राजनीतिक बंदी थे तथा जिन्होंने अहिंसक आंदोलन किया था। जाहिर है कि इससे भगत सिंह और उनके साथी आजाद नहीं हो सकते थे। इसी बात को लेकर आम जनमानस में भयंकर रोष था। उनका आरोप था कि गांधी जी ने भगत सिंह तथा उनके साथियों को बचाने की कोशिश नहीं की। इसके अतिरिक्त कुछ लोगों ने गांधी जी को पूँजीपतियों के गुलाम के रूप में भी संबोधित किया। इन घटनाओं ने युवाओं को सबसे अधिक प्रभावित किया। इस अवधि में हम उनमें एक प्रकार के असंतोष को पनपते देखते हैं, जो उन्हें मोहभंग की ओर ले जा रहा था। गांधी जी अपने आंदोलन को कमजोर होते नहीं देख सकते थे। इसलिए उन्होंने सक्रिय

राजनीति से दूरी बढ़ाकर स्वयं को सामाजिक आंदोलनों से जोड़ दिया। इससे पूर्व 1932 में रैमजे मैकडोनेल्ड ने सांप्रदायिक पंचाट जारी कर दिया। इसके तहत मुसलमानों और सिक्खों की तरह दलित वर्ग को भी अल्पसंख्यक करार दिया गया। यह अंग्रेजों की बाँटो और राज करो नीति का ही एक हिस्सा था। इसका गांधी जी ने पुरजोर विरोध किया और पूना के यरवदा जेल में आमरण अनशन पर बैठ गए। इसके उपरान्त गांधी जी एवं अंबेडकर के मध्य समझौता हुआ, “जिसे पूना समझौता के नाम से जाना जाता है। इस समझौते के तहत दलित वर्गों के लिए पृथक निर्वाचन मंडल समाप्त कर दिया गया, लेकिन प्रांतीय विधानमंडलों में दलितों के लिए सुरक्षित सीटों की संख्या 71 से बढ़कर 147 कर दी गयी। केंद्रीय विधानमंडल में सुरक्षित सीटों की संख्या में 18 प्रतिशत की वृद्धि की गयी।” इसके बाद गांधी जी ने समाज में व्याप्त छुआछूत को समाप्त करने के लिए छुआछूत निवारण आंदोलन से जुड़ गए। गांधी जी के इस आंदोलन का प्रभाव भी हिंदी कविता पर खूब पड़ा। परिणामतः रामकुमार वर्मा ने महाभारत के उपेक्षित पात्र एकलव्य को केंद्र में रखकर एक खण्ड काव्य लिखा। इस खण्ड काव्य का उद्देश्य समाज में व्याप्त भेदभाव पर प्रहार करना था। हम देखते हैं कि एकलव्य को राजकुल से संबद्ध न होने के कारण शिक्षा से वंचित होना पड़ा था, जबकि उसमें अर्जुन से भी अधिक प्रतिभा थी, लेकिन गुरु द्रोण ने ‘जाओ हे निषाद-पुत्र! तुम हो अस्वीकृत’ कहकर उसे अपना शिष्यत्व प्रदान नहीं किया। एकलव्य के लगन और परिश्रम ने अंततः गुरु द्रोणाचार्य को यह कहने पर विवश कर दिया कि-

“एकलव्य हे!

तुम विप्र हो हे पुत्र! गुरु द्रोण शूद्र है,

हाँ, तुम्हारी गुस्ता में, गुरु हुआ लघु है”¹³

सारांश यह है कि राष्ट्रीय-सांस्कृतिक कविता का फलक अत्यंत विस्तृत है। इसमें पराधीनता से मुक्ति के स्वर तो आसानी से सुने जा सकते हैं, इसके अतिरिक्त इस कविता में देश को जातिवाद, क्षेत्रवाद तथा संप्रदायवाद से भी मुक्ति के संकल्प दिखाई देते हैं। इस धारा के

शोधार्थी की कलम से

कवियों ने अपनी रचनाओं में देश की स्थिति पर आँसू नहीं बहाया है, अपितु वह अपने देशवासियों को उनके गौरवशाली अध्यायों की स्मृति दिलाकर उनके आत्मबल को बढ़ाया है। उन्हें जागृति का संदेश दिया है तथा उन्हें अंग्रेजी राज की शोषण नीति से भी आगाह किया है। इन कवियों ने भारत की अबोध जनता के हृदय में अपने देश की पराधीनता की स्थिति का बोध कराकर उन्हें आजादी के लिए ललकारा है। डॉ. नगेन्द्र लिखते हैं- “भारत की दीन-दुखी, अशिक्षित और असहाय जनता के प्रति कस्त्रा जगाने वाली अनेक कविताएँ इसी वर्ग में आती हैं। किसान, मजदूर और ग्राम का अशिक्षित भूखा-नंगा जनसमुदाय काव्य का आलंबन बना। उसकी निर्धनता, मूढ़ता, विवशता तथा उसके आधिदैविक और आधिभौतिक

कष्टों के अनेक सच्चे-झूठे कस्त्र चित्र अंकित किये गये। उसे अपने कर्तव्य और अधिकार के प्रति जागरूक करके दमन और शोषण के विरुद्ध संगठित करने के लिए उत्साहपूर्ण कविताएँ लिखी गयीं। बंगाल के अकाल के दिनों में एक काव्य-आंदोलन ही आरंभ हो गया था। इनमें विदेशी आक्रांता के प्रति ही नहीं, भारत में उसके एजेण्ट-अत्याचारी पूँजीपतियों और जमींदारों आदि के प्रति भी- आक्रोश की भावनाएँ मुखरित की गईं।” कुल मिलाकर भारत के स्वाधीनता आंदोलन में राष्ट्रीय-सांस्कृतिक कविता एक जलती हुई मशाल के समान है, जिसकी रोशनी भारत के स्वाधीनता संग्राम को प्रेरित करती है।

¹चंद्र, प्रो. बिपिन, भारत का स्वतंत्रता संघर्ष, पृष्ठ 100, हिंदी माध्यम कार्यान्वय निदेशालय, दिल्ली वि.वि., 35 वाँ पुनर्मुद्रण 2011

²चतुर्वेदी, माखनलाल, हिमकिरीटिनी, पृष्ठ 20, सरस्वती-प्रकाशन-मन्दिर, जॉर्जटाउन, इलाहाबाद

³नवीन, बालकृष्ण शर्मा, जूठे पत्ते, हम विषपायी जनम के, पृष्ठ 494, प्र. सं. 1964

⁴डॉ. नगेन्द्र (संपा.), हिंदी साहित्य का इतिहास, पृष्ठ 521, मयूर पेपरबैक्स, नौएडा, 35 वाँ पुनर्मुद्रण, 2009

⁵त्रिपाठी, रामनरेश, पथिक (खण्डकाव्य), हिंदी मंदिर, रुद्रनगर, सुल्तानपुर, 1992

⁶वही

⁷चंद्र, विपिन, आधुनिक भारत का इतिहास, पृष्ठ 305, ओरियंट ब्लैकस्वॉन, पुनर्मुद्रित 2010

⁸त्रिपाठी, रामनरेश, मिलन, पृष्ठ 31, हिंदी मंदिर, प्रयाग, चौथा सं. 1979

⁹चौहान, सुभद्रा कुमारी, मुकुल, पृष्ठ 74, सुषमा साहित्य मंदिर, जबलपुर, प्र. सं. 1944

¹⁰चौहान, सुभद्रा कुमारी, पुरस्कार कैसा, मुकुल तथा अन्य कविताएँ, पृष्ठ 97, भारतीय साहित्य संग्रह

¹¹शर्मा, रामविलास (संपा.), राग-विराग, पृष्ठ 56, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, 2012

¹²चंद्र, प्रो. बिपिन, भारत का स्वतंत्रता संघर्ष, पृष्ठ 277, हिंदी माध्यम कार्यान्वय निदेशालय, दिल्ली वि.वि., 35 वाँ पुनर्मुद्रण 2011

¹³वर्मा, रामकुमार, एकलव्य, पृष्ठ 296, भारती भंडार, लीडर प्रेस, इलाहाबाद

¹⁴डॉ. नगेन्द्र, आधुनिक हिंदी कविता की मुख्य प्रवृत्तियाँ, पृष्ठ 28, गौतम बुक डिपो, दिल्ली, प्र. सं. 1951

संपर्क : पंकज कुमार सिंह, शोधार्थी, दिल्ली विश्वविद्यालय, पता- E-172, 3rd Floor, E- Block, Gandhi Vihar, Near mukharjeenagar, New Delhi- 110009, Mob- 8130796460

अशोक चक्रधर पिछले कई दशकों से न केवल साहित्य-रचना के क्षेत्र में सक्रिय हैं, बल्कि धारावाहिक और वृत्तचित्र-निर्माण जैसे विभिन्न क्षेत्रों में भी उनका स्मरणीय योगदान है। उन्होंने अभिनय और निर्देशन में भी हाथ आजमाया है। कम्प्यूटर में हिंदी के प्रयोग को सरल और सर्वसुलभ बनाने की प्रक्रिया में भी अशोक जी ने अपनी सेवाएँ प्रदान की थीं। इसके साथ-साथ अशोक जी एक मंचीय कवि के तौर पर भी बहुत प्रसिद्ध हैं। वे भाषा और साहित्य के लब्धप्रतिष्ठ शिक्षक भी रहे हैं। इतनी सारी भूमिकाओं को निभाने में अशोक जी का समर्पण और अपने कार्य के प्रति निष्ठा कहीं भी कमजोर पड़ती नहीं दिखती। न केवल देश में, बल्कि विदेश में भी उन्होंने विविध आयोजनों में भाग लेकर हिंदी भाषा और साहित्य का नाम ऊँचा किया है।

अशोक जी की बहुमुखी प्रतिभा और बहुआयामी व्यक्तित्व की छानबीन करें तो उनके सभी रूपों में से एक हास्य-व्यंग्यकार की छवि कुछ ज़्यादा उभरी हुई और अधिक परिचित सी नज़र आती है। अशोक जी शिष्ट हास्य के द्वारा न केवल पाठक या श्रोता को गुदगुदाते हैं, बल्कि उसे सोचने-समझने पर भी विवश करते हैं। उनका लेखन कोरा हास्य या मसखरी नहीं, बल्कि समसामयिक समस्याओं पर उनके चिंतन-मनन और मंथन का प्रतिफल है। वह स्वतंत्रता के दुरुपयोग, लोकतंत्र की कमजोर कड़ियों, अधिकांश मंत्रियों के निकम्मेपन, चुनावी वादों और नारों के गोरखधंधों, समाज में गहरे तक समाए भ्रष्टाचार, बेराजगारी, महंगाई, बढ़ती अनैतिकता, टूटते परिवारों, जीवन-मूल्यों के ह्रास, पर्यावरण के क्षरण आदि पर तीखा व्यंग्य करते हैं। न केवल व्यंग्य करते हैं, बल्कि समाधान खोजने की दिशा में भी प्रयास करते दिखाई देते हैं। उनका लेखन हमारे आसपास की जानी-अनजानी समस्याओं, विद्रूपताओं, विसंगतियों और विडंबनाओं की जीवंत तस्वीर प्रस्तुत करता है।

अशोक जी पिछली सदी में पचास के दशक में जन्मे उन साहित्यकारों में से हैं, जिन्होंने सन 1947 में मिली स्वाधीनता की खुली हवा में अपना बचपन जिया और स्वाधीनता के बाद के एक अलग भारत की परिकल्पना का बनना-बिगड़ना भी देखा। अशोक जी महसूस करते हैं कि आजादी से पहले अंग्रेज प्रशासक भारतीयों का शोषण कर रहे थे और आजादी के बाद भी शोषण का दुष्चक्र ज्यों का त्यों चल रहा है। अब नेता, पूँजीपति और उद्योगपति आदि आम जनता को शोषित कर रहे हैं। ऐसे में आजादी के मायने ही बदल गए हैं -

आजादी का मतलब / रामनाम की लूट है / इसमें गधे और घास / दोनों को बराबर की छूट है। / घास आजाद है कि / चाहे जितनी बढ़े / और गधे स्वतंत्र हैं कि / लेटे-लेटे या खड़े-खड़े कुछ भी करे / जितना चाहे इस घास को चरे।

अशोक जी ने लोकतंत्र की मोहक छवि को भी विकृत होते हुए देखा। लोकतंत्र के माध्यम से जिस सुनहरे भविष्य का स्वप्न साकार होने की आशा की गई थी, वो स्वप्न आजादी के कुछ ही दशकों बाद छिन्न-भिन्न हो गया था। अशोक जी को लगता है कि वर्तमान में ये 'डेमोक्रेसी' एक ऐसी व्यवस्था बन गई है, जिसके द्वारा जनता अपने ही द्वारा चुने गए

शोधार्थी की कलम से

प्रतिनिधियों के माध्यम से अपना ही शोषण करवाती है।
अशोक जी व्यंग्य करते हैं-

सर जहाँ / जनता के लिए / जनता के द्वारा /
जनता की / ऐसी तैसी होती है / वही डेमोक्रेसी होती है।¹²

वे डेमोक्रेसी को लगभग 'दुर्दशा' का पर्यायवाची
मानकर कहते हैं -

...अब मैं किसी से / ये नहीं कहता / कि मेरी
ऐसी-तैसी हो गई है, कहता हूँ / मेरी डेमोक्रेसी हो गई है।¹³

अशोक चक्रधर ये अनुभव करते हैं कि हर पाँच
वर्ष की अवधि के बाद होने वाली चुनावी-प्रक्रिया भी
शोषकों के हाथ में एक उपकरण बनकर रह गई है। अब
चुनाव के माध्यम से प्रगति और विकास के लिए जनता
नेताओं को नहीं चुनती, बल्कि नेतागण जो कि अमूमन
एक से होते हैं, अपनी समृद्धि और अमीरी के लिए
जनता को चुनते हैं -

कवि ने उस समय खोपड़ी धुन ली / जब सुख-
समृद्धि / और खुशहाली के लिए / चट्टे और बट्टे ने /
एक-एक जनता चुन ली।¹⁴

कवि अशोक जी को लगता है कि चुनाव केवल
प्रत्याशियों के झूठे वादों और भावुक या उत्तेजित कर देने
वाले नारों की एक कोरी कवायद मात्र बनकर रह गए हैं,
जिसकी तह में भावी नेताओं के खतरनाक मंसूबे छिपे
रहते हैं। 'जंगल गाथा' नामक प्रसिद्ध कविता में वे
लिखते हैं -

तो जंगल में थे / तरह-तरह के / नारे और वादे
/ पंजों में / नाखूनों में / छिपे हुए खूँखार इरादे।¹⁵

अशोक जी अनुभव करते हैं कि चुनावी-प्रक्रिया
में साम-दाम-दंड-भेद आदि सभी नीतियों को आजमाने
के बाद और सारे जुगाड़ तथा हथकंडे अपनाने के
उपरांत संसद में अनेक अयोग्य लोग पहुँच जाते हैं और
इस तरह जाने-अनजाने योग्य व्यक्तियों को और उनकी
योग्यता को दरकिनार किया जा रहा है -

संसद रूपी माँ / वोटों का / अल्ट्रासाउंड कराने
के बाद / योग्यता नाम की / कन्या की / भ्रूणहत्या करा
रही है।

× × × ×

मुझे डर है कि योग्यता / साढ़े तीन अक्षरों का /
लंगड़ाता हुआ लफ्ज / बनकर न रह जाए।¹⁶

लोकहित और राष्ट्रहित की चिंता में अशोक जी
की तीखी निरीक्षण शक्ति से नेताओं का निकम्मापन भी
नहीं बच पाया है। उनका मानना है कि अधिकांश नेता
अच्छे अभिनेता हैं, जो मासूमियत का नकाब ओढ़े रहते
हैं और भीतर ही भीतर स्वार्थ-सिद्धि की योजनाएँ बनाते
रहते हैं-

उजली धवल खादी में / मन के काले हैं / ऊपर
से भोले हैं / अंदर से भाले हैं।¹⁷

नेताओं और बड़े अधिकारियों की कुर्सीपरस्ती भी
अशोक जी को खलती है। अन्य व्यंग्यकारों की तरह वे
भी कुर्सी की महत्ता और इसके आकर्षण को अपने
काव्य का विषय बनाते हैं। अशोक जी कुर्सी की अनंत
शक्तियों का बखान करते हुए रामायणकालीन 'सुरसा'
का संदर्भ प्रस्तुत करते हैं, जिसके मुँह में हनुमान जी
लघुकाय हो कर घुसते हैं और बाद में पुनः विशालकाय
हो जाते हैं। अशोक जी का कहना है कि इस सुरसा की
एक और बहन 'सुरसी' थी, जो इस कलिकाल में कुर्सी
बन गई है। वे 'सुरसी' से कुर्सी बनी इस विचित्र वस्तु
के सम्बन्ध में लिखते हैं -

आदमी इसमें / मच्छर की तरह घुस जाता है /
लेकिन थोड़ी ही देर में / हाथी की तरह फूलकर / फंस
जाता है।¹⁸

समसामयिक समस्याओं में से एक बहुत बड़ी
समस्या भ्रष्टाचार भी अशोकजी के निशाने पर है।
भारतीय समाज में भ्रष्टाचार बड़े से बड़े अधिकारी से
लेकर छोटे-छोटे ओहदेदारों तक व्याप्त हो गया है। भ्रष्टाचार
हमारी रोजमर्रा की जिंदगी का हिस्सा बनता जा रहा है
और इसके कम या समाप्त होने की कोई उम्मीद भी
नज़र नहीं आती है। इससे भी दुखद ये है कि समाज में
भ्रष्ट व्यक्ति लज्जित होने के स्थान पर उपलब्धियों के
अहसास से भरा हुआ है -

विराट भ्रष्ट नेताजी ने / मेघ-मंद स्वर में उचारा /
मेरे हजारों मुँह / हजारों हाथ हैं / हजारों पेट हैं / हजारों
ही लात हैं। / नैनं छिन्दन्ति पुलिसा-वुलिसा, नैनं दहति
संसदा, / नाना विधानि रूपाणि / नाना हथकंडानि च।¹⁹

ये वर्तमान समय की विडंबना है कि भ्रष्टाचारी
होना बुरी बात नहीं मानी जाती, बल्कि भ्रष्टाचारी सिद्ध
होना बुरा माना जा रहा है। यदि बाहर छवि अच्छी है, तो

शोधार्थी की कलम से

भीतर-भीतर व्यक्ति चाहे जितने अपराध और काले कारनामे कर ले, कोई अंतर नहीं पड़ता -

कि आजकल / भ्रष्टाचार की नदी में / नहाने के बाद / जिसकी भी छवि स्वच्छ है / वही मगरमच्छ है।¹⁰

भ्रष्टाचार जीवन के हर क्षेत्र में जड़ों तक समा गया है। सार्वजनिक हित के लिए बनाए जाने वाले विभिन्न स्कूलों-कॉलेजों और अस्पतालों आदि के भवनों, खेल-मैदानों, पुलों, बाँधों आदि के निर्माण में भी लाखों-करोड़ों रुपये का घोटाला और भवन-निर्माण सामग्री में मिलावट होना अब आम बात हो गई है -

लेकिन बनते-बनते ये दीवारें / टनों का सीमेंट खा जाती हैं / ईंट और रोड़ा में / करोड़ों पचा जाती हैं / इससे यही इंडीकेट कोटा है / कि दीवारों के भी पेट होता है।¹¹

भ्रष्टाचार का ही एक बहुप्रचलित ढंग रिश्वतखोरी है। छोटे से छोटे काम के लिए भी रिश्वत का विकल्प किसी न किसी रूप में सदैव खुला मिलता है। अशोकजी का कहना है कि रिश्वत एक ऐसा चारा है जिसे देकर भाईचारा बढ़ाया जाता है -

यहाँ हर कोई / एक-दूसरे के आगे चारा डालकर / भाईचारा बढ़ रहा है / जिसके पास / डालने को चारा नहीं है / उसका किसी से भाईचारा नहीं है / और अगर वो बेचारा है / तो इसका हमारे पास / कोई चारा नहीं है।¹²

अशोक जी अनुभव करते हैं कि ऐसे विकट समय में जब स्वार्थपरता और बेईमानी अपने चरम पर है, ईमानदारी और सद्भावना को खोजना बहुत कठिन हो गया है। 'ओज़ोन लेयर' कविता में वे अपनी ये चिंता व्यक्त करते हैं -

ईमानदारी का / अकाल पड़ गया है / उन्माद के उद्योग के / प्रदूषित कचरे से / सद्भाव की नदी का / पानी सड़ गया है। / सदाचार, दुराचार, / शिष्टाचार, भ्रष्टाचार/ इन सारे शब्दों में / अभेद हो गया है / शहर की ओज़ोन लेयर में / छेद हो गया है।¹³

अशोक जी वर्तमान समाज में व्याप्त बेरोज़गारी की समस्या से तो वाकिफ हैं ही, वे नौकरीशुदा लोगों के निकम्मेपन और धूर्तता से भी भली-भाँति परिचित हैं। विभिन्न कार्यालयों में अनेकों ऐसे कर्मचारी मिल जाएँगे, जो काम को टालते रहने को ही काम समझते हैं, भले ही

इससे समय और ऊर्जा का कितना ही नुकसान हो जाए और भले ही जनता को परेशानी होती रहे। इसी वजह से फाइलें आगे नहीं सरकती और कागज़ उनमें बंद पड़े रहते हैं। अशोक जी व्यंग्य करते हैं -

पर क्या करें / कागज़ों को भी तो फाइलें पसंद हैं / जहाँ शायद वे स्वेच्छ से बंद हैं।¹⁴

हमारे बाजारों में निम्नस्तरीय वस्तुएँ मिलना भी एक आम समस्या है। दोयम दर्जे की चीजों बनाना या किसी अच्छे उत्पाद की हूबहू सस्ती नकल तैयार करने में हमारे यहाँ के निर्माता सिद्धहस्त हैं। 'आलपिन कांड' नामक कविता में अशोक जी लिखते हैं -

श्रीमान, / मशीन अगर इंडियन होती / तो आपकी हालत ढीली न होती, / क्योंकि / पिन इतनी नुकीली न होती / पर हमारी मशीनें तो / अमरीका से आती है / और वे आलपिनो को / बहुत ही नुकीला बनाती हैं।¹⁵

बढ़ती जनसंख्या के कारण हमारे समाज में बेकारी बढ़ती जा रही है और जनसंख्या का एक बड़ा हिस्सा भुखमरी से जूझ रहा है। छोटे-मोटे काम-धंधे वाले लोग हर दिन बिना नागा हाड़-तोड़ मेहनत करने के बाद भी दो जून रोटी को तरसते हैं -

रिक्शेवाला कहता है - / बाबू जी / रिक्शा पैर से नहीं / पेट से चलता है।¹⁶

अशोक चक्रधर की दृष्टि संयुक्त परिवारों की टूटन, रिश्तों में आती दरारों और उपेक्षा के पात्र बनते बुजुर्गों की समस्याओं पर भी बराबर पड़ी है। एक अवोध बच्चे और उसकी दादी का संवाद कितना मर्मभेदी है -

आखिरकार बच्चे ने राजा खोला / मासूमियत से बोला - / कल रात जब / मैं झूठ-मूठ को सो रहा था / तब पापा ने / मम्मी से कहा था / कि अम्मा जब टें बोलेंगी तो / खूब सारे रुपये मिलेंगे / फिर हम / ये घर बेच के / दूसरा लेंगे।¹⁷

कुल मिलाकर अशोक चक्रधर का काव्य हमें न तो अतीत के राजभवनों में घुमाता है और न ही भविष्य के अप्सरालोक में ले जाने का प्रयास करता है, वो केवल हमारे वर्तमान की एक सीधी-सच्ची तस्वीर दिखाता है, चाहे वो कितनी ही सामान्य कोटि की या औसत दर्जे की क्यों न हो। अशोक जी की भाषा भी उनके इस

शोधार्थी की कलम से

उद्देश्य की पूर्ति में बहुत सहायक है, क्योंकि वो आम जनता की कही-सनी भाषा है। बकौल शरद जोशी - 'मैं जब उन्हें सुनता हूँ, मुझे लगता है - मैं गहरे सामाजिक यथार्थ से उभरा एक वृत्तचित्र देख रहा हूँ। अशोक की कहन में बड़ी शक्ति है और यही हमारी भाषा की, हमारे देश और हमारी जनता की शक्ति है।' ¹⁸

अशोक जी उन सभी छोटी-बड़ी समस्याओं को उकेरते हैं, जो हम सभी के जीवन और हमारी दिनचर्या को प्रभावित करती हैं। वे कोई मुगालता नहीं पालते और

न ही पाठक को किसी भ्रम में जीने का अवसर देते हैं। वे हल्के तरीके से भारी सत्य कहते हैं और उनका उद्देश्य वही है जो हर एक बुद्धिजीवी का है - एक समतामूलक, शांतिपूर्ण और चरित्रवान समाज का निर्माण। उनका सपना है -

नफरत थमेगी / मुहब्बत रमेगी / ये धरती बनेगी
/ दिव्यांगना / गूँजे गगन में / महके पवन में / हर एक
मन में / सद्भावना / मौसम की बाँहें / दिशा और राहें
/ सब हमसे चाहें। ¹⁹

संदर्भ-पुस्तकें

1. भोले भाले, डेमोक्रेसी, डायमंड पॉकेट बुक्स 2018, पृष्ठ 10
2. भोले भाले, जिज्ञासा, डायमंड पॉकेट बुक्स 2018, पृष्ठ 8
3. भोले भाले, डेमोक्रेसी, डायमंड पॉकेट बुक्स 2018, पृष्ठ 11
4. भोले भाले, चट्टे मियाँ बट्टे मियाँ, डायमंड पॉकेट बुक्स 2018, पृष्ठ 58
5. हँसो और मर जाओ, जंगल गाथा, डायमंड पॉकेट बुक्स 2017, पृष्ठ 26
6. जो करे सो जोकर, मुझे डर है, डायमंड पॉकेट बुक्स 2018, पृष्ठ 56-57
7. भोले भाले, भोले भाले, डायमंड पॉकेट बुक्स 2018, पृष्ठ 14
8. भोले भाले, सुरसी, डायमंड पॉकेट बुक्स 2018, पृष्ठ 36
9. चुनी चुनाई, चालीसवाँ राष्ट्रीय भ्रष्टाचार महोत्सव, प्रभात प्रकाशन 2002 पृष्ठ 53
10. हँसो और मर जाओ, जंगल गाथा, डायमंड पॉकेट बुक्स 2017, पृष्ठ 22
11. भोले भाले, बहरी दीवारें, डायमंड पॉकेट बुक्स 2018, पृष्ठ 16
12. भोले भाले, डेमोक्रेसी, डायमंड पॉकेट बुक्स 2018, पृष्ठ 11
13. हँसो और मर जाओ, ओज़ोन लेयर, डायमंड पॉकेट बुक्स 2017, पृष्ठ 12
14. ए जी सुनिए, कागज़ों को फाइलें पसंद हैं, डायमंड पॉकेट बुक्स 2017, पृष्ठ 63
15. भोले भाले, आलपिन कांड, डायमंड पॉकेट बुक्स 2018 पृष्ठ 65
16. भोले भाले, रिक्शेवाला, डायमंड पॉकेट बुक्स 2018, पृष्ठ 18
17. चुनी चुनाई, टे बोल दो न, प्रभात प्रकाशन 2002, पृष्ठ 13
18. भोले भाले, अ-शोक (भूमिका - शरद जोशी), डायमंड पॉकेट बुक्स 2018, पृष्ठ 5
19. हँसो और मर जाओ, सद्भावना गीत, डायमंड पॉकेट बुक्स 2017, पृष्ठ 127.

संपर्क : रवि प्रकाश, सहायक आचार्य, हिंदी विभाग, लालबहादुर शास्त्री राजकीय महाविद्यालय
सरस्वती नगर, शिमला (हि०प्र०) दूरभाष - 9459448000

“कविता एक सफर है, भीतर का और बाहर का”-सतीश विमल

हारुन रशीद

मुहम्मद हारुन रशीद खान- कविता, का कवि और पाठक के बीच क्या संबंध है ?

सतीश विमल - कविता एक उर्स है, एक मेला है इश्क का। कवि उर्स की सबील है और पाठक या श्रोता उर्स या मेले में शिरकत का इच्छुक। कविता एक सफर भी है कोहरे के बीच एक किरण का, भीतर का और बाहर का। कवि मुसाफिर है जिसने यात्रा का प्रयोजन किया है और श्रोता या पाठक इस यात्रा में कवि का सहभागी है। इन तीनों के बीच का संबंध मौन का है जो शब्दों के दरमियाँ से फूटता है और एक ऐसी लय का निर्माण होता है जिसमें यह तीनों एकाकार हो जाते हैं। तभी संस्कृत काव्य-शास्त्रियों ने शब्दों के मौन को आनंद का संवाहक कहा है।

मुहम्मद हारुन रशीद खान- कविता के पाठ में अर्थ कहाँ स्थित होता है, और पाठक उसे किस तरह से ग्रहण करता है?

सतीश विमल - पाठ कविता की काया है और इस पाठ के नेपथ्य में होता है मौन, जो कविता की आत्मा है। पाठ के साथ मौन का गतिशील होना ही कविता का जीवित होना होता है। मौन ही शिथिल क्रमबद्ध शब्दों में अर्थ या प्रभाव की गति उत्पन्न करता है। जो पाठक या श्रोता कविता की काया के साथ-साथ कविता की आत्मा को भी पहचान पाता है, वही कविता का अर्थ पाकर आनंदानुभूति को प्राप्त होता है।

मुहम्मद हारुन रशीद खान- क्या कविता अपना पाठ स्वयं प्रस्तावित करती है और यह निपट एकार्थवाची पाठ होता है? अथवा पाठक अपनी संवेदना और ज्ञान के द्वारा उसका निजी पाठ निर्मित करता है?

सतीश विमल - जी हाँ, कविता अपना पाठ स्वयं प्रस्तावित करती है और उस पाठ के साथ जुड़ी संवाहक शक्ति भी। जिस जोगिया-अनुभूति की गंगोत्री से यह धारा फूटती है, वह जिम्मेदार है उस गति की जो तय करती है कि धारा का प्रवाह कैसे और कहाँ से बने। हाँ, लेकिन यह पाठ कतई एकार्थवाची नहीं होता। एक ही रास्ते पर यात्रा करने वाले अलग-अलग मुसाफिर अलग-अलग यात्रा-वृत्तांत प्रस्तुत करते हैं। काव्य के संवाहक मौन को जो जितना और जैसे पढ़ या सुन पाता है, उतना या वैसे उसका कविता के पाठ का निर्माण हो जाता है। काया से ही मिलना होता, तो मिलना स्पष्टरूपी होता, पर अब जब मिलना आत्मा से है तो मिलन का बहुरूपी होना तय है। जिसकी जितनी सशक्त संवेदना, उसका उतना सक्षम पाठ, उसके उतने विस्तृत अर्थ।

मुहम्मद हारुन रशीद खान- कविता के समीप जाने के लिए क्या पाठक को किसी प्रकार की तैयारी करनी होती है? क्या कविता सहज बोधगम्य होनी चाहिए या उसे संस्कारी पाठक चाहिए?

सतीश विमल - पाठक या श्रोता को सफर की तैयारी तो करनी ही पड़ेगी तभी यात्रा का आनंद प्राप्त किया जा सकता है। उर्स में शरीक होना है तो उर्स के रस्म-ओ-रिवाज जानना-पहचानना अनिवार्य है। कविता की दरगाह पर हाजिरी देनी है तो इश्क का मिजाज तो चाहिए ही होगा। कविता कभी सीधा-सपाट बयानिया नहीं मानती; कविता का संबोधन सदा सांकेतिक होता है, तभी कुछ लोगों को अच्छी कविता में सहजता नहीं दिखती। अच्छी और सच्ची कविता की अखबारी-भाषा से इतर एक ऐसी भाषा होती है जो पाठक से भी मश्क कराती है। इस मश्क के अर्जित अर्थ का प्रभाव आनंद की अनुभूति से परस्कृत करता है। सौंदर्यशास्त्री आचार्य कंतक भी वक्रोक्ति को काव्य का बड़ा गुण मानते हैं। गालिब तभी कहते हैं कि ‘गोयम मुश्किल, वगरना गोयम मुश्किल’ (मुश्किल कहा, यदि ना कहता तो मुश्किल होती)।

मुहम्मद हारुन रशीद खान- पाठ-बहुलता अगर कविता की नियति है, तो क्या सर्वसम्मत पाठ की संभावना हो सकती है जो कवि के पाठ के आस-पास पहुँच सकती हो? अथवा कवि के पाठ से दूर हो जाने में पाठकीय परिक्रम है? कविता का प्रामाणिक पाठार्थ क्या संभव अथवा आवश्यक भी है?

सतीश विमल - कविता मात्र एक भौतिक संरचना होती तो उसका एक सर्वसम्मत पाठ संभव हो पाता, परंतु कविता का अभौतिक अस्तित्व भी है जो एक निश्चित ढांचे में परिभाषित नहीं हो सकता। पाठक एवं श्रोता कविता के भौतिक और अभौतिक अस्तित्व के बीच सेतु निर्माण कर पाये तो किसी प्रामाणिक पाठार्थ तक पहुँचा जा सकता

है। मैं यह सब फैशन की उस कविता के बारे में नहीं कह सकता हूँ जो रोजनामचा-साहित्य है; मैं यह उस कविता के बारे में कह रहा हूँ जो सर्वकालिक है और सार्वभौमिक भी।

मुहम्मद हास्न रशीद खान- कविता को समझने और समझाने की प्रक्रिया में समीक्षक का क्या योगदान है क्या प्रबुद्ध पाठक समीक्षक की भूमिका को सीमित अथवा खत्म नहीं कर देता?

सतीश विमल - समीक्षक हमारी नजर में एक ऐसा गुणी पाठक या श्रोता है जो कविता के उन आयामों और पहलुओं तक आम पाठक या श्रोता को ले जाने की क्षमता रखता है, जिन तक सामान्य कविता-प्रेमी की पहुँच संभव ना हो। हाँ, पर प्रबुद्ध पाठक समीक्षक का मोहताज भी नहीं। हमारे दौर की काव्य-समीक्षा उतनी ही बीमार है, जितनी हमारे दौर की कविता। दोनों म्योपिया के शिकार हैं। तभी कई तीखे प्रश्नों का सामना करना पड़ रहा है।

मुहम्मद हास्न रशीद खान- कविता के अस्वाद में पाठक के वैचारिक आग्रहों की क्या भूमिका है? ये आग्रह किस हद तक पाठ-प्रक्रिया को निर्धारित करते हैं?

सतीश विमल - कविता के अस्वाद में पहली दिक्कत कविता के कमजोर बयान की है। ऐसी कविता काव्यशास्त्रीय गुणों से वंचित एक सुसज्जित अखबारी-बयानिया बनकर रह गयी है। यह कविता बाजार में अन्य रोजमरा की जरूरत की वस्तुओं की तरह बेची जाती है। इन कविताओं में शब्द-लय और मौन-लय का कोई सामंजस्य होता ही नहीं। अधिकतर कवियों को इस नजाकत का ज्ञान भी नहीं। पाठक के आग्रह का क्या दोष? कविता के अर्थ का उर्स कैसे मने।

मुहम्मद हास्न रशीद खान- क्या समाज-वैज्ञानिक अथवा साहित्येत्तर पूर्व धारणाएँ कविता के अस्वादन में मदद देती हैं? अथवा कविता को खालिस कविता की शर्तों पर, उसकी स्वायत्तता का सम्मान करते हुए पढ़ा जाना चाहिए?

सतीश विमल- कविता व्याम में से उत्पन्न नहीं होती। कविता के साथ हमारे ऐतिहासिक, सांस्कृतिक, मनोवैज्ञानिक, मानवीय सरोकारों की एक अदृश्य सी श्रृंखला जुड़ी होती है हमेशा। कविता को खालिस कविता की शर्तों पर पढ़ेंगे तो बहुत कुछ छूट जाएगा। एक सच्ची कविता एक दुनिया होती है, और किसी भी दुनिया को खालिस की शर्तों पर कैसे जाना जा सकता है। हाँ, कविता को कविता से बाहर के अर्थों के बोझ से दबाया भी नहीं

जाना चाहिए। कविता के अर्थ कविता के शब्दों की लय और मौन के संगीत के समन्वय से ही उत्पन्न होते हैं।

मुहम्मद हास्न रशीद खान- क्या बिम्ब, प्रतीक निजंघर या मिथक के उपयोग से कविता जटिल हो जाती है? अथवा उनका प्रयोग काव्यानुभाव की जटिलता को सलझाने में मदद देता है? कविता में जटिल या कठिन होना कवि का अवगुण है अथवा कठिन कविता का सामना करने से बचना पाठक की कमजोरी है?

सतीश विमल - बिम्ब, प्रतीक, मिथक आदि कविता के गहने हैं। इनसे काव्यानुभव का संप्रेषण सहजता से हो पाता है। कविता इन गहनों के बिना निम्न-स्तर की अभिव्यक्ति बनकर रह जाती है। स्तरीय कविता आम जन से इतर प्रबुद्ध पाठकगण एवं श्रोतागण से सरोकार रखती है, अतः कविता का पाठक कविता की वक्रोक्ति से बचना ही नहीं चाहेगा, उसके लिए तो कविता का एक गण है वक्रोक्ति। कविता औचित्य की उपज है, और औचित्य बिम्ब, प्रतीक, मिथक आदि के प्रभावी उपयोग का ही नाम है।

मुहम्मद हास्न रशीद खान- क्या छंदस चेतना की अनुपस्थिति आज की कविता के सम्प्रेषण और प्रचार में सचमुच बाधक है अथवा उससे सम्प्रेषण अधिक बोधगम्य होता है? या फिर छंद अनुभव की कंडिशनिंग करते हैं, इसलिए उनसे मुक्ति अपरिहार्य है?

सतीश विमल - छंद तो कविता के लिए अपरिहार्य है, पर हाँ, नयी कविता ने कविता की जमीन कब की छोड़ दी है। शब्द-संरचना में अंतरलय का बोध भी जाता रहा है। अब कविता अकविता के इलाके में रहती है। बंधे हुए छंद की अपनी सीमाएँ हैं, तभी गालिब ने कहा था कि 'कुछ और चाहिए है वुस' अत-ए-बयाँ के लिए। कविता एक संरचनात्मक-अनुभव या अनुभूति की अभिव्यक्ति है, पर छंद की बंदिश उसे संपूर्णतः प्रस्तुत होने से रोकती है, बात इशारे में छूट जाती है। पर हाँ, छंद-रहित कविता का भी एक निहित-छंद होना ही चाहिए था, जो न रहा। तभी कुछ लोगों का यह कहना वाजिब है कि हिन्दी कविता, काव्य-रस से पूर्णतः खाली हो गयी है। छंद लयात्मकता का परिचायक है, और लय का होना कविता के लिए जरूरी ठहरा। छंद-रहित काव्याभिव्यक्ति में भी इस लय का मौजूद होना अति-आवश्यक है।

मुहम्मद हास्न रशीद खान - इधर विकसित हो रहे ज्ञानश्रयी समाज (नालेज बेस्ड सोसायटी) में कविता

साक्षात्कार

का क्या स्थान दिखाई देता है? सभ्यता की गति-प्रौद्योगिक और उससे जुड़े सांस्कृतिक बदलाव के साथ वह किस तरह से कदम मिला सकेगी?

सतीश विमल - ज्ञान के उत्सव का दूसरा नाम काव्य है। ज्ञानश्रेयी समाज में कविता कभी मर नहीं सकती। कविता ज्ञान के आनंद का दस्तावेज़ है। इतिहास गवाह है कि ज्ञानीजन अधिकतर या तो कवि थे, या कविता के दीवाने। पहले तो ज्ञान कोई भी हो, वह कविता के माध्यम से ही अभिव्यक्ति पाता रहा है। ज्ञान और कविता का यह रिश्ता प्राकृतिक है और प्रकृति को काल कैसे बदल सकता है? बदलते युग में ज्ञान के प्रसार और प्रचार में पंख लगे हैं। नयी दुनिया बदलाव की दुनिया है। इस बदलाव में जीवन-मूल्य बदल गए हैं, पर सनातन सत्य नहीं बदले और न बदलेंगे। हमें कविता को फैशन से निकालना होगा और इसे सनातन सरोकारों के पास ले जाना होगा, तभी इस बदलाव की आंधी में कविता के दीप जलते रहेंगे।

महम्मद हारून रशीद खान - इन दिनों हिंदी कविता ठहर-सी गई लगती है। एक ही तरह की बनी बनाई वाली कविताएँ लिखी जा रही हैं। काफी समय से कोई नया प्रयोग नहीं दिखता इसकी क्या वजह मानते हैं आप?

सतीश विमल - हमने कविता को जिम्मेदारियाँ दीं कुछ विचारधाराओं का बोझ ढोने की, और कविता जुलूस का उद्घोष हो गयी, नारा हो गयी, बाजार का इश्तिहार हो गयी, मैनीफेस्टो हो गयी, वाह-वाह की मोहताज हो गयी और रोज़नामचा हो गयी। फैशन में जो कुछ भी ढल जाए, उसका ठहरना तो तय है। इस माहौल में एक ईकोसिस्टम बन गया है जो नए प्रयोगों को कबूल नहीं करता, नयी हवाओं को अंदर आने नहीं देता। पर यह भी बीत जाएगा। कहीं-कहीं फ्रैशन से हटकर जो रचा जा रहा है सनातन शुद्ध साहित्य, वो अपने वजूद से महकायेगा सब कुछ। समय-चक्र चल रहा है ना निरंतर। कविता के प्रतिकूल क्षण अभी दब गए हैं, समय-चक्र उन्हें फिर ऊपर ले आएगा। फिर अच्छी कविता का उत्सव मनाया जाएगा।

महम्मद हारून रशीद खान - हिंदी आलोचना पर आरोप है कि वह परिसरों तक सिमटकर रह गई है। आरोप है कि जैसे पश्चिम में या अपने यहाँ अंग्रेजी में चिंतन और विमर्श दिखता है, वैसा हिंदी में नहीं है।

पुस्तक समीक्षा किस्म की आलोचना से अधिक हो रही है। क्या इसे सही मानते हैं आप?

सतीश विमल - मैं आप की बात से पूर्णतः सहमत हूँ। हिन्दी आलोचना न सिर्फ परिसरों तक सिमट गयी है अपितु वैचारिक खेमों तक भी। साहित्य का विशिष्ट विचारधाराओं या जीवन-दर्शन की हदबंदियों में कैद होना बहुत दुर्भाग्यपूर्ण है। इस सब का परिणाम यह हुआ है कि साहित्य की सहेत खराब हो गयी है। दस्तार बौंदियों और प्रशास्तियों का आडंबर साहित्य के ईमानदार मूल्यांकन में रोड़े अटका रहा है। आलोचना और समीक्षा में कोई अन्तर बचा ही नहीं। मैं समकालीन विश्व साहित्य का विद्यार्थी हूँ। पूरी दुनिया में ऐसी साहित्यिक खेमेबंदी नहीं दिखती जैसी हमारे यहाँ है। कोई नया साहित्यिक विमर्श कबूल ही नहीं होता, यहाँ कोई नया प्रयोग स्वीकारीय ही नहीं है, अतः हमारे यहाँ लेखनी की ताज़गी का एहसास ही नहीं होता। मैं जब विश्व की अन्य भाषाओं में लिखे जा रहे साहित्य और साहित्यिक आलोचना को देखता-पढ़ता हूँ, तो अपनी दुर्दशा पर पछताता हूँ। पर मैं निराशावादी नहीं हूँ। यह समय भी गजर जाएगा और पुनः एक नव-रचना का दौर आरंभ होगा, बहुत जल्द।

महम्मद हारून रशीद खान - कविता का वर्तमान परिदृश्य आपकी दृष्टि में कैसा है ?

सतीश विमल - संपूर्ण भारतीय साहित्य की बात करें तो मैं कतई ना-उम्मीद नहीं हूँ। भारतीय भाषाओं में साहित्य सृजन के नए प्रयोग हो रहे हैं। भारतीय कविता का वर्तमान उज्ज्वल है। हाँ, हिन्दी कविता की मौजूदा हालत अच्छी नहीं है। हिन्दी कविता के परिदृश्य को फारसी की यह कहावत 'मन तुरा हाजी बगोयम, तू मरा हाजी बगो' (मैं आपको हाजी कहूँगा, तम मुझे हाजी कहो) अच्छी तरह से दर्शाती है। कुछ साहित्यिक समर्थक-वर्ग हैं, जो एक दूसरे को प्रक्षेपित करने में लगे हैं। मौलिक और स्तरीय साहित्य की कुबूलियत का यह जमाना ही नहीं। मुख्यधारा की हिन्दी कविता कई विकारों की शिकार है। पर इस वीराने में भी दूर-दूर ही सही, कुछ दीये आज भी रोशन हैं। एक दिन निःसंदेह इन चिरागों की रोशनी अंधेरे के इस साम्राज्य को समाप्त कर देगी। कविता की शक्ति को कोई काल की चाल हीन नहीं बना सकता, अतः कल कविता के नव-युग का गवाह बनेगा, ऐसी मुझे पूरी आशा है।

संपर्क : मुहम्मद हारून रशीद खान, मुहल्ला : खजुरिया पोस्ट-पीरनगर,

जिला - गाजीपुर, पिन कोड नम्बर : 233001, उत्तर प्रदेश

मो० : 9889453491

हवड़ा विद्यार्थी मंच एवं मुक्तांचल के संयुक्त तत्वावधान में गत 28 जनवरी, 2023 को एक शोध-समीक्षण समिति का गठन किया गया। इस अवसर पर विशिष्ट अतिथि के रूप में उपस्थित थी। विश्वभारती, शान्ति निकेतन की प्राक्तन प्रोफेसर डॉ० मंजुरानी सिंह, प्रमुख वक्ता थे प्रो० अरुण होता, निशान्त, राज्यवर्द्धन एवं डॉ० विनय मिश्र तथा इतु सिंह। इस आयोजन की अध्यक्षता कर रहे थे कलकत्ता विश्वविद्यालय में प्राक्तन प्रोफेसर डॉ० अमरनाथ शर्मा। कार्यक्रम की शुरुआत विद्यार्थी मंच की अध्यक्ष मीरा सिन्हा ने अपने प्रस्तावना वक्तव्य से किया। उन्होंने कहा कि अध्ययन के प्रति तन्मयता एवं गम्भीरता ही विद्यार्थी को शोध की तरफ उन्मुख करता है। शोध कार्य केवल अवलोकन का विषय नहीं होता उसमें अवगाहन भी करना पड़ता है। प्रो० अरुण होता ने कहा कि पत्रिका में जो शोध आलेख प्रकाशित हों उन्हें पियर रिव्यू टीम के सुझाव से संशोधित एवं परिवर्धित करने के बाद ही अग्रसरित किया जाये। डॉ० मंजु रानी सिंह ने कहा कि शोध समग्रता में होना चाहिए, अगर आप किसी लेखक की कविताओं पर शोध कर रहे हैं तो आपको उनकी कथा रचना को भी पढ़ना चाहिए। निशान्त ने कहा –

इतु सिंह ने बताया कि शोध पढ़ने से ही पकता है और फल खाने से पहले पकाना जरूरी है अतः किसी विषय को कलमबद्ध करने से पहले हमें ज्यादा से ज्यादा पढ़ना होगा।

कार्यक्रम के अध्यक्ष प्रो अमरनाथ शर्मा ने शोध और समीक्षा में फर्क के साथ- साथ शोधार्थियों द्वारा पूछे गए शोध संबंधित सभी प्रश्नों के उत्तर बड़े ही सरलता से दिया इसी कड़ी में राज्यवर्द्धन जी ने भी शोध संबंधी अपने विचार प्रस्तुत किए तथा कुछ शोध से जुड़ी महत्वपूर्ण सुझाव दिए।

इस सुनहरे मौके पर सरिता खोवाला, स्नेहा सिंह, श्रद्धा गुप्ता 'केशरी', प्रिया श्रीवास्तव, बलराम साव, रूद्रकांत झा, सुरेश प्रजापति, राजू राय, मंगल पांडे, नगीना लाल, स्वराज पांडे, जाह्नवी पांडे समेत कई लोगों ने शामिल होकर कार्यक्रम को सफल बनाया।

कार्यक्रम का समापन विनय मिश्रा जी ने धन्यवाद ज्ञापन से किया।

‘मुक्तांचल पत्रिका के 36 वें अंक का लोकार्पण एवं विचार गोष्ठी का आयोजन’

प्रीति कुमारी साव (एम०ए०, इग्नू)

हावड़ा, 22 जनवरी: विद्यार्थी मंच द्वारा प्रकाशित मुक्तांचल त्रैमासिक पत्रिका के 36वें अंक का लोकार्पण समारोह एवं विचार गोष्ठी का आयोजन रविवार को विद्यार्थी मंच के कार्यालय में किया गया। इस विचार गोष्ठी में आमंत्रित विद्वत्तजनों ने पत्रिका के आगामी स्वरूप पर विचार-विमर्श किया। सुषमा कुमारी की सरस्वती वंदना के साथ कार्यक्रम आरंभ किया गया। मुक्तांचल पत्रिका की संपादक डॉ० मीरा सिन्हा ने गोष्ठी के आरंभ में अपनी बात रखी। उन्होंने कहा कि साहित्यिक पत्रिकाएँ विनोदन के लिए नहीं होती, बल्कि अध्ययन के लिए होती हैं। वह बहते हुए पानी की तरह है जो जोड़ती है। आज हम 21वीं सदी के जिस मोड़ पर खड़े हैं यह जरूरी है कि वहाँ हम वहाँ से साहित्य की विभिन्न विधाओं का अवलोकन करें। अन्य मुख्य वक्ताओं के रूप में मृत्युंजय श्रीवास्तव, रामनिवास द्विवेदी, राज्यवर्द्धन, रितेश पांडेय, विवेक लाल, पंकज साहा, प्रकाश अग्रवाल, विजया सिंह, सुषमा कुमारी (शोधार्थी, विद्यासागर विश्वविद्यालय), आरती कुमारी (शोधार्थी, काज़ी नज़रूल विश्वविद्यालय) आदि उपस्थित थे।

कार्यक्रम के दूसरे सत्र में अमित कुमार अम्बष्ठ, श्रीप्रकाश गुप्ता, सुषमा कुमारी, प्रीति कुमारी साव, सीता चौधरी, मंजू श्रीवास्तव, राज्यवर्द्धन ने अपनी स्वरचित कविताओं का पाठ किया। सुशील पांडेय और स्वराज पांडेय ने काव्य आवृत्ति प्रस्तुत की। कार्यक्रम को सफल बनाने में मंगल पांडेय, बलराम साव, अक्षिता शशि साव, प्रिंस मिश्रा, युवराज सिंह, सरिता खोवाला आदि ने महत्वपूर्ण भूमिका निभाई।

इस कार्यक्रम की अध्यक्षता भाषाविद अवधेश प्रसाद सिंह ने की। कार्यक्रम का सफल संचालन विनोद यादव ने किया एवं धन्यवाद ज्ञापन सुषमा कुमारी ने दिया।

प्रगति प्रकाशन द्वारा प्रकाशित पुस्तक का लोकार्पण

श्रद्धा गुप्ता 'केशरी'

कोन्नगर (हुगली), 14 जनवरी 2023 : शनिवार को कोन्नगर स्थित स्टडी मिशन के सभागार में प्रगति प्रकाशन की ओर से 'काव्यांचल' काव्य संग्रह का लोकार्पण एवं कवि सम्मेलन का आयोजन किया गया। काव्यांचल हिंदी के 120 वरिष्ठ एवं नव युवा कवि-कवयित्रियों का काव्य संग्रह है। इस संग्रह के संपादक श्रीप्रकाश गुप्ता एवं सहसंपादक प्रकाश त्रिपाठी, विनोद यादव एवं श्रद्धा गुप्ता 'केशरी' हैं। यह संग्रह प्रगति प्रकाशन द्वारा प्रकाशित किया गया है।

आज का यह कार्यक्रम दो सत्रों में आयोजित किया गया। कार्यक्रम का शुभारम्भ सम्मानित अतिथि डॉ. मीरा सिन्हा, उमा झुनझुनवाला, राज्यवर्द्धन, डॉ. संजय जायसवाल एवं दिव्या प्रसाद के द्वारा दीप प्रज्ज्वलित कर किया गया। इसके उपरांत स्पम महतो द्वारा सरस्वती गीत प्रस्तुत किया गया। कार्यक्रम में उच्च शिक्षा, साहित्य एवं संपादन के क्षेत्र में विशेष योगदान के लिए सावित्री गर्ल्स कॉलेज की भूतपूर्व प्राध्यापिका एवं 'मुक्तांचल' पत्रिका की संपादक। डॉ. मीरा सिन्हा को प्रगति शिक्षा सम्मान 2023, हिंदी जगत की सफल नाटककार, कहानीकार एवं निर्देशिका उमा झुनझुनवाला को प्रगति नाट्य सम्मान 2023 एवं हिंदी के जनवादी कवि राज्यवर्द्धन को प्रगति रचना सम्मान 2023 से सम्मानित किया गया। तत्पश्चात काव्यांचल का लोकार्पण किया गया। डॉ. मीरा सिन्हा ने प्रगति प्रकाशन एवं काव्यांचल को ढेर सारी शुभकामनाएँ देते हुए उनके इस साहित्यिक कार्य की प्रशंसा की। उमा झुनझुनवाला ने अपने वक्तव्य में कहा की वर्तमान समय में मानसिक विकृति को दूर करने के लिए समय-समय पर हिंदी भाषियों को साहित्यिक खुराक की आवश्यकता है और यह साहित्यिक एवं सांस्कृतिक कार्यक्रमों से संभव है। राज्यवर्द्धन ने अपने वक्तव्य में साहित्य के विकेंद्रीकरण की बात कही जिससे साहित्य विकसित एवं समृद्ध होगा। डॉ. संजय जायसवाल ने 'काव्यांचल' काव्य संग्रह की भूमिका रखते हुए कहा की 'काव्यांचल' के रूप में हमारे बीच एक ऐसी पुस्तक मौजूद है जो सृजन के साथ-साथ वरिष्ठ कवियों और नव युवा कवियों को आपस में जोड़ने का कार्य कर रही है। दिव्या प्रसाद ने हिंदी जगत में 'काव्यांचल' के आगमन को नव रचनाकारों के लिए एक उपलब्धि माना।

कार्यक्रम के दूसरे सत्र में वरिष्ठ एवं नव युवा कवि एवं कवयित्रियों रवि प्रताप सिंह, जय कुमार स्त्रवा, रीमा पाण्डेय, मनीषा गुप्ता, डॉ. शाहिद फरोगी, प्रदीप धानुक, अभिषेक गुंजन, अनिता ठाकुर, रास बिहारी गिरी, सूर्य देव राय, नूपुर श्रीवास्तव, सुषमा कुमारी, श्रद्धा गुप्ता 'केशरी', प्रिया श्रीवास्तव, मुरली चौधरी, डॉ. इब्रार खान, निखिता पाण्डे, ऋषि तिवारी, अशोक आशीष, स्वेता गुप्ता 'श्वेतांबरी', स्पम महतो, स्वाति भारद्वाज, प्रिया पाण्डेय रोशनी, चंदन भगत, सोनी हक, सपना कुमारी, बृजेन्द्र कुमार राय ने अपने स्वरचित कविता का पाठ किया।

कार्यक्रम का सफल संचालन सुषमा कुमारी, निखिता पाण्डेय, श्रद्धा गुप्ता 'केशरी', प्रिया श्रीवास्तव ने किया। कार्यक्रम के संयोजन में श्रीप्रकाश गुप्ता, विनोद यादव, वंदना तिलावत, सत्य प्रकाश गुप्ता, शालिनी गुप्ता, प्राची गुप्ता आदि ने मुख्य भूमिका निभाई। कार्यक्रम के अंत में धन्यवाद ज्ञापन विनोद यादव ने दिया।

इस पार तक.....

तुम मुझसे प्रेम करो जैसे मैं तुमसे करता हूँ।

आईनो, रोशनाई में घुल जाओ और आसमान में
मुझे लिखो और मुझे पढ़ो।

आइनो, मुस्कराओ और मुझे मार डालो।

आईनो, मैं तुम्हारी जिंदगी हूँ।

एक फूल ऊषा की खिलखिलाहट पहनकर

रात का गड़ता हुआ काला कंबल उतारता हुआ

मुझसे लिपट गया।

उसमें काँटें नहीं थे—सिर्फ एक बहुत

काली, बहुत लंबी जुल्फ थी जो जमीन तक

साया किए हुए थी....जहाँ मेरे पाँव

खो गए थे।

वह गुल मोतियों को चबाता हुआ सितारों को

अपनी कनखियों में घुलाता हुआ, मुझ पर

एक जिंदा इत्रपाश बनकर बरस पड़ा।

और तब मैंने देखा कि मैं सिर्फ एक साँस हूँ जो उसकी
बुँदों में बस गई है।

जो तुम्हारे सीनों में फाँस की तरह खाब में

अटकती होगी, बुरी तरह खटकती होगी।

मैं उसके पाँवों पर कोई सिजदा न बन सका,

क्योंकि मेरे झुकते न झुकते

उसके पाँवों की दिशा मेरी आँखों को लेकर

खो गई थी।

जब तुम मुझे मिले, एक खुला फटा हुआ लिफाफा

तुम्हारे हाथ आया।

बहुत उसे उलटा पलटा उसमें कुछ न था

तुमने उसे फेंक दिया: तभी जाकर मैं नीचे

पड़ा हुआ तुम्हें 'मैं' लगा। तुम उसे

उठाने के लिए झुके भी, पर फिर कुछ सोचकर

मुझे वहीं छोड़ दिया। मैं तुमसे

चौं हँ मिल लिया था।

मेरी याददाश्त को तुमने गुनाहगार बनाया—और उसका

सूद बहुत बढ़ाकर मुझसे वसूल किया। और तब

मैंने कहा—अगले जन्म में। मैं इस

तरह मुस्कराया जैसे शाम के पानी में

डूबते पहाड़ गमगीन मुस्कराते हैं।

मेरी कविता को तुमने खूब दाद दी—मैंने समझा

तुम अपनी ही बातें सुना रहे हो। तुमने मेरी

कविता को खूब दाद दी।

तुमने मुझे जिस रंग में लपेटा, मैं लिपटता गया :

और जब लपेट न खुले—तुमने मुझे जला दिया।

मुझे, जलते हुए को भी तुम देखते रहें: और वह

मुझे अच्छा लगता रहा

एक खुशबू जो मेरी पलकों में इशारों की तरह

बस गई है, जैसे तुम्हारे नाम की नन्हीं—सी

स्पेलिंग हो, छोटी—सी, प्यारी—सी, तिगली स्पेलिंग,

आह, तुम्हारे दाँतों से जो दूब के तिनके को नोक

उस पिकनिक में चिपकी रह गई थी,

आज तक मेरी नींद में गड़ती है।

अगर मुझे किसी से ईर्ष्या होती तो मैं

दूसरा जन्म बार—बार हर घंटे लेता जाता :

पर मैं तो जैसे इसी शरीर से अमर हूँ—

तुम्हारी वरकत।

बहुत से तोर बहुत सी नावें, बहुत से पर इंधन

उड़ते हुए आए, घूमते हुए गुजर गए,

मुझको लिए, सबके सब। तुमने समझा

कि उनमें तुम थे।

नहीं, नहीं, नहीं।

उनमें कोई न था।

सिर्फ बीती हुई

अनहोनी और होनी को उदास

रंगिनियाँ थीं। फकत।

RNI NO. WBHIN/2014/70173

POSTAL REG. NO. WB/HWH-90/2018-2020

स्मृतिशेष



मैनजर वाण्डिय

13 सितम्बर 1941 – 06 नवम्बर 2022

हावड़ा विद्यार्थी मंच (8/2L No. 8053 of 20/3-2014) 6/2/1, आशुतोष
मुखर्जी रोड, सलकिया, हावड़ा-711106 द्वारा प्रकाशित एवं गोपी कृष्ण पालुङ्गे,
शिक्षण द्वारा 30 सौताराम पोष स्ट्रीट, कोलकाता से मुद्रित

संपादक : डॉ. भीरा सिन्हा